बंगला और उसका साहित्य

: बंगला-भाषा और साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण :

लेखक
श्री हंसकुमार तिवारी

सम्पादक : क्षेमचन्द्र 'सुमन'
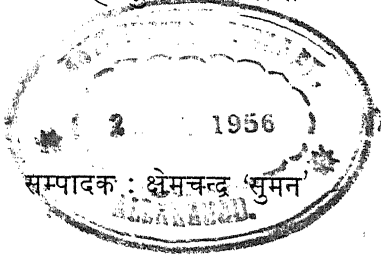
सरस्वती सहकार, दिल्ली
की ओर से प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली
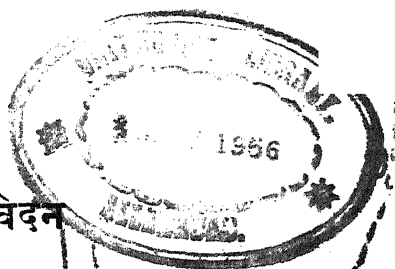
निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उपभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २७ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी-जगत् हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम पुस्तक के लेखक श्री हंसकुमार तिवारी के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

जी. १० दिलशाद गार्डन,
शाहदरा (दिल्ली)

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

प्रस्तावना

गागर में सागर भर सकना शायद सम्भव है, किन्तु उसके लिए क्षमता और योग्यता के जिस जादू की जरूरत है, वह कम-से-कम अपने में तो नहीं है, यह कबूल किये लेता हूँ। इसलिए यह असम्भव नहीं कि इस संक्षिप्त स्वरूप में सदियों की एक भाषा एवं उसकी साहित्य-साधना की परम्परा, प्रगति, प्रवृत्ति और इतिहास को समेट लेने की चेष्टा में कहीं त्रुटि भी रह गई हो। अपने आदियुग से बंगला-साहित्य की धारा परम्परा की जिस पृष्ठभूमि पर प्रवृत्तियों की जो नई आवेग-लहरियाँ लिये वर्तमान तक बहती आई है, उसकी एक परिचयात्मक रूपरेखा हिन्दी-पाठकों के लिए प्रस्तुत करना अपना उद्देश्य रहा है और उसमें कोई कोशिश उठा नहीं रखी गई है। अगर इस दृष्टि से यह चेष्टा कुछ उपयोगी बन पड़ी हो, तो मुझे अपने श्रम की सार्थकता पर खुशी होगी। किन्तु इसका जो-कुछ भी श्रेय है, वह तो भाई 'सुमन' जी को ही है, जिनकी सूझ से इसकी योजना बनी और जिनकी प्रेरणा ने इस तरह का रूप लिया।

इस पुस्तक के निर्माण में मुझे जिन ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं से सहायता मिली है, उनके लेखक-सम्पादकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानसरोवर, गया —हंसकुमार तिवारी

क्रम

: १ :

बंगला भाषा और उसका आदिकाल

भाषा-उत्स की जिज्ञासा

बंगला भाषा का जो स्वरूप आज हमारे सामने है, वह बहुत पुराना नहीं है, परन्तु स्वरूप की इस मंजिल तक पहुँचने में उसे समय की खासी लम्बी दूरी तै करनी पड़ी है। दुर्गमता तक पैठ पाने की एक सहज जिज्ञासा बुद्धि की होती है। पहाड़ की दुर्गम चोटी और नदी के अगम उद्गम तक जाने का दुस्साहस उसी जिज्ञासा की देन है और इसी स्वभाव से मनुष्य में भाषाओं की पैदाइश जानने की भी ललक है। नदियों का उद्गम तो हम खोज लेते हैं, इसलिए कि उसका सम्बन्ध स्थान से होता है और उसमें केवल कठिनाई ही होती है। लेकिन भाषा की सही जन्म-तिथि नहीं जानी जा सकती, क्योंकि वह उस काल से सम्बन्धित होती है, जिसकी अपारता को भेदने वाली आँखों का मिलना मुश्किल है। इसलिए यह बताना तो सम्भव नहीं कि बंगला भाषा ठीक किस समय उत्पन्न हुई, पर प्राप्त सामग्रियों से उसके क्रम-विकास की जो रूप-रेखा खड़ी होती है, उस पर से एक अनुरूप अनुमान तक पहुँचा जा सकता है।

बंगला भाषा की आयु

इतिहास में महापुरुषों के बारे में सन्-तारीख़ देने का, (चाहे वह

विवादग्रस्त ही क्यों न हो) एक रिवाज-सा है। भाषा के बारे में भी लोग इस तरह के फ़तवे दे दिया करते हैं। किन्हीं-किन्हीं की राय है कि बंगला भाषा की आयु हजार साल की है। 'ललित विस्तर' में जहाँ बुद्ध की शिक्षा का ज़िक्र आया है, ऐसा लिखा है कि अध्यापक विश्वामित्र उन्हें अंग, बंग, ब्राह्मी, सौराष्ट्री और मागधी लिपि सिखाते थे। यदि इसे मान लिया जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि बंगला का जन्म ईसा के जन्म से पहले हुआ। किन्तु यह बात भ्रामक है। आर्यों के आने से पहले जो लोग यहाँ बसते थे, न तो उनकी वैसी सभ्यता थी और न ही उनका कोई साहित्य था। आर्यों का यहाँ आना ईसा पूर्व तीसरी सदी से शुरू हुआ और उन्हें बसने-बसाने में प्रायः पाँचवीं सदी तक का अरसा लग गया। उनकी लिखित भाषा संस्कृत थी, तत्कालीन ताम्र-पत्रों और भूमि-दान-पत्रों से इसका पता चलता है।

बंगला की पहली पुस्तक

बंगला में लिखी गई सबसे पुरानी पोथी अभिनन्द द्वारा रचित 'राम-चरित' है, जिसमें रामायण की कथा है और जो अनुमानतः आठवीं सदी की है।[1] ऐसा अनुमान किया जाता है कि कवि अभिनन्द राजा देवपाल के अनुचर थे। भारत में पाल-वंश ही बौद्ध-धर्म का अन्तिम शरणदाता रहा। इसी वंश के राजत्व-काल में, दसवीं सदी के अन्तिम भाग में यहाँ एक दूसरा काव्य रचा गया, जिसका नाम भी 'रामचरित' ही है। इसके कवि संध्याकर नन्दी हैं। इसमें द्व्यार्थकता से राम और राजा रामपाल के जीवन-प्रसंग वर्णित हैं। वास्तव में बंगला-साहित्य में प्रेरणा का सूत्रपात तो कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' के पदों से होता है, जिसकी गीतात्मकता और भाव-धारा से परवर्त्ती सम्पूर्ण वैष्णव-साहित्य प्रेरित और अनुप्राणित है। जयदेव लक्ष्मणसेन देव की सभा में बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में हुए।

भाषा की निर्बाध गति

लिखित भाषा के साथ एक परम्परागत दोष हम यह पाते हैं कि वह

शिक्षितों के एक छोटे-से समुदाय में सीमित हो जाती है। श्री-सौष्ठव-वृद्धि के लिए शब्द-चयन की प्रतियोगिता तथा व्याकरण के शासन की कठोरता से वह धीरे-धीरे सर्वसाधारण से दूर होती जाती है। यही दुरूहता भाषा-विप्लव की सूचना देती है। भाषा की चिरप्रवाहमयी गति को व्याकरण के नियम बाँध-बाँधकर कभी पंगु नहीं बना सकते। माहेश-व्याकरण से लेकर पाणिनि, कात्यायन, वररुचि, रूपसिद्धि, शाकल्य, भरत, कोहल, भामह, मार्कण्डेय, मौद्गल्यायन, शिलावंश आदि वैयाकरण भाषा-शासन के नियम बनाते रहे, परन्तु अवस्थानुरूप भाषा अपनी गति से निर्बन्ध बहती रही। सच पूछिये, तो व्याकरण भाषा के गति-पथ का साखी गोपाल-भर होता है। भाषा उसे अग्राह्य करके सदा नया रूप लेती रही है। संस्कृत और सर्व-साधारण के बीच जब दूरी की काफ़ी ऊँची दीवार खड़ी हो गई, तो प्राकृत सामने आई और यह प्राकृत भी जब जन-जीवन से दूर जा पड़ी, तो आधुनिक हिन्दी-बंगला आदि भाषाओं का रूप स्थिर होने लगा।

गौड़ीय भाषा

हार्नले साहब ने इन आधुनिक भाषाओं को गौड़ीय भाषा कहा है और उनके हिसाब से आठवीं सदी तक आकर प्राकृत का युग लुप्त होता है एवं गौड़ीय भाषाओं का युग आरम्भ होता है।

लोक-भाषा

कबीर ने संस्कृत को कुए का बँधा पानी कहा था और भाषा को गति-शील धारा। लोग कह सकते हैं कि इसका कारण मुसलमानी प्रभाव था। वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। संस्कृत की दुरूहता ही उसे जन-साधारण से दूर किये देती थी। विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' की रचना इसीलिए अवहट्ठ में की। उन्होंने स्पष्ट कहा कि संस्कृत केवल बुधजनों को ही भाती है, प्राकृत (भाषा) रस का मर्म नहीं पाती; देसी बोली सबको मीठी लगती है, इसलिए 'कीर्तिलता' को मैं अवहट्ठ में कहता हूँ :

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ
पाउँअ रस को मम्म न पावइ

देसिल वअना सब जन मिट्ठा
तं तैसन जम्पओ अवहट्ठा ।

केवल कबीर और विद्यापति में ही क्यों, यह धारणा उससे भी पहले से बद्धमूल होती आ रही थी। **'उत्त विसेसो कब्वं भाषा जो होउ सो होउ'** वाली उक्ति दसवीं-ग्यारहवीं सदी में ही प्रचलित हो चुकी थी। अपनी मृत्यु के कुछ पहले बुद्धदेव ने अपने शिष्यों से कहा था : **'मेरे वचनों का अनुवाद संस्कृत में मत करना नहीं तो अपराध के भागी बनोगे। मैं जैसी प्राकृत में उपदेश करता हूँ, ग्रन्थों में वैसी ही भाषा का व्यवहार करना।'** भाषा के इतिहास में यह एक नवयुग की ही सूचना थी।

संस्कृत का प्रभाव

किन्तु कई कारणों से बंगला पर किसी हद तक संस्कृत का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। ईसा की आठवीं सदी के आस-पास शांकर मत की विजय से हिन्दुत्व का पुनरुत्थान हुआ और संस्कृत की पुनः प्रतिष्ठा हुई। पुरानी भाषा का बहुत-से अंशों में परिशोधन भी प्रारम्भ हुआ। पुरानी पोथियों में बहुलता से प्रयुक्त अनेक शब्द आज सहसा लुप्त हो गए हैं। जैसे, निमल (निर्मल), पखा (पक्ष), विभा (विवाह), दे (देह), काति (कातिक महीना), वगा (वक्र) आदि। कालान्तर में बंगला और संस्कृत की घनिष्ठता इस सीमा तक भी पहुँच गई कि बंगला-कविता को संस्कृत की कविता समझ बैठने का भ्रम भी कोई कर सकता। भारतचन्द्र की इस कविता को देखिये :

जय शिवेश शंकर, वृषध्वजेश्वर, मृगांकशेखर, दिगम्बर।
जय श्मशान नाटक, विषाणवादक हुताशभालक महत्तर।
जय सुरारिनाशन वृषेशवाहन, भुजंगभूषण, जटाधर।
जय त्रिलोक कारक, त्रिलोक पालक, त्रिलोकनाशक महेश्वर।[1]

---

1. **'अन्नदा-मंगल'**।

तत्सम-बाहुल्य का कारण

तत्सम शब्दों की ऐसी बहुलता देखकर ऐसी आशंका का होना स्वाभाविक ही है कि आखिर इन आधुनिक भाषाओं को अपभ्रंश का विकसित रूप कैसे कहा जाय। खुद अपभ्रंश की रचनाओं में भी संस्कृत के इतने शब्द अपने मूल रूप में नहीं पाये जाते। हिन्दी में सूर और तुलसी की भाषा में भी तत्सम शब्दों की वैसी ही प्रचुरता है। इस पर से श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चूँकि शांकर मत का प्रचार संस्कृत भाषा के ही द्वारा हुआ, इसलिए जन-साधारण की भाषा में संस्कृत-शब्दों का प्रवेश होता गया और धीरे-धीरे संस्कृत से ही हिन्दी, बंगला, मराठी आदि संस्कृत-बहुल भाषाएँ बनीं। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में ऐसा लिखा है कि गौड़ या बंगाल देश के लोग संस्कृत में अधिक रुचि रखते थे। बिम्स साहब का खयाल है, गौड़ीय भाषाओं में (हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, बंगला) बंगला और मराठी ही संस्कृत के निकटतम हैं और उनमें अन्य की अपेक्षा तत्सम शब्दों की अधिकता है। इसका कारण उन्होंने यह बताया है कि चूँकि पंजाब प्रभृति देशों में मुसलमानी प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ा, इसलिए भाषा का रूप शीघ्रता से बदल गया। दूर किनारे पर होने के कारण बंगाल को शान्ति से संस्कृत के प्रभाव में गठित होने का अवकाश मिला था।

बंगला संस्कृत से नहीं निकली

जो भी हो, आज इस पर विवाद की गुञ्जाइश नहीं रह गई है कि बंगला प्राकृत से नहीं निकली है। डाक और खना के वचन, परागली महाभारत और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा अन्वेषित, हजार साल की पुरानी बंगला में 'बौद्ध गान ओ दोहा' आदि पुस्तकों का अर्थ लगाना भी कठिन है। यह तब की बंगला का प्राथमिक रूप है, जब वह प्राकृत की केंचुल छोड़कर खड़ी होने के क्रम में थी। भाषा के उस स्वरूप को देखकर उसे हम बंगला की संज्ञा तो नहीं दे सकते, पर यह कहना भी

भूल होगी कि वह सीधी संस्कृत से निकलकर आई है। उदाहरण के लिए डाक के वचन की यह भाषा :

बुन्द्दा बुझिया एड़िब लुण्ड।
आगल हैले निवारिव तुण्ड॥

हो सकता है प्राप्त प्राकृत रचनाओं से यहाँ की तत्कालीन प्राकृत का सादृश्य न हो, पर प्राकृत के किसी-न-किसी रूप के अन्तर्गत वह आती होगी, ऐसा मानना अप्रासंगिक न होगा।

प्राकृत के प्रकार

'साहित्य दर्पण' में प्राकृत के अठारह भेदों की चर्चा आई है। भरत ने मागधी, आवन्ती, प्राची, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, बाल्हीका और दाक्षिणात्या, इन सात प्रकार की प्राकृतों का उल्लेख किया है। 'काव्यादर्श' में दंडी ने गौड़ देश की प्राकृत का स्पष्ट नाम लिया है :

शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्॥

बंगला का आदि रूप—मागधी प्राकृत

वररुचि ने मोटा-मोटी दो ही भाषाओं का उल्लेख किया है—शौरसेनी और मागधी। पहली पूर्ववर्त्ती पश्चिमी हिन्दी का नमूना है और दूसरी बंगला, उड़िया की पूर्ववर्त्ती भाषा का। इस प्रकार मागधी प्राकृत मूलतः बंगला का प्राचीन रूप ठहरती है। अपभ्रंश भाषा के विचार में महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने भी इस मागधी का ज़िक्र किया है।[1]

शब्द-साम्य

वास्तव में तो जानी-मानी प्राकृत के किसी रूप से बंगला की पूर्वावस्था का पूर्णतया सादृश्य नहीं है, किन्तु अनेक व्यवहृत शब्द अवश्य मिलते हैं। 'बंगला भाषा ओ साहित्य' में डॉ० दिनेशचन्द्र सेन ने मिलते-

1. **'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति।'**

जुलते शब्दों की बहुत बड़ी तालिका दी है। उनमें से कुछ विशिष्ट शब्दों की चर्चा ही पर्याप्त होगी—

१. *बंगला*—लून (नमक) *संस्कृत रूप*—लवणम्; *प्राकृत*—लोण।

बाहान्न पुरुष यार *लोणेर* व्यापार।
से बेटा आमार काछे करे अहंकार।[1]

२. *बंगला*—आइ; *संस्कृत*—माता; *प्राकृत*—अत्ता।

आछिल आमार *आता* किछुइ ना जानि
भूतेर डरेते सेइ हिन्दुआनि मानि॥[2]

३. *बंगला*—बोउ (वधू); *संस्कृत*—वधुः; *प्राकृत*—बहु

याहार बहु कि दूरे यान्ति।
ताहार निकटे बसे असती॥[3]

४. *बंगला*—दड़ (दृढ़); *संस्कृत*—दढ़; *प्राकृत*—दढ़

मने भावे श्रीधर उद्धत द्विजवर,
कोन दिन आमारे किलाय पाछे दढ़।[4]

प्राकृत-क्रिया के बंगला रूप

नीचे प्राकृत-क्रिया के कुछ रूपों का नमूना हम दे रहे हैं, जो आसानी से बंगला-क्रिया में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—गाव (गाओया), चिण (चेना = चीन्हना), बुज्झ (बोझा = बूझना), जाण (जाना = जानना), होइ (हय = होता है), फुट (फोटा = खिलना, फूटना), पुच्छ (पोंछा = पोंछना) आदि। इसी प्रकार लभिय का लभिया, शुनिय का शुनिया, करिय का करिया, लइ का लइया बहुत सहज ही बना लिया जाता है। पुरानी बंगला में प्राकृत के बहुत-से शब्द हू-बहू व्यवहृत हुए हैं—जैसे यान्ति, बलन्ति,

---

१. कवि कंकण चंडी।

२. विजयगुप्त—'पद्म पुराण'।

३. डाक का वचन।

४. 'चैतन्य भागवत'।

पिबन्ति।

प्रसिद्ध वैष्णवी हैल परम महान्ती।
बड़ बड़ वैष्णव तार दर्शनेते *यान्ति*॥
परणाम करिया हंस *बलन्ति* सेइ काले।
हिरण्यकशिपु मारि *पिबन्ति* रुधिर॥

बंगला को प्राकृत कहते थे

हिन्दी को जैसे पहले भाषा ही कहते थे, उसी तरह बंगला को भी बहुत पहले प्राकृत ही कहा जाता था। अनेक ग्रन्थों के पदों से यह बात प्रमाणित होती है। जैसे :

ताहा अनुसारे लिखि प्राकृत कथने।[1]
प्राकृत प्रबन्धे कहि शुन सर्वलोक।[2]
सप्तदश पर्वकथा संस्कृत छन्द।
मूर्ख बुझिबार कैल पराकृत छन्द।[3]

बंगला अनार्य भाषा से नहीं निकली

कुछ ऐसे भी लोग हुए, जो बंगला को न तो संस्कृत से उद्भूत मानते थे और न प्राकृत से ही। उनकी राय में उसकी उत्पत्ति किसी-न-किसी अनार्य भाषा से हुई है। संस्कृत से उसके शब्दों का बहुत-कुछ सादृश्य जरूर है, परन्तु बहुत पहले संस्कृत से उसका विशेष कोई सम्बन्ध नहीं था। यह बात उसके विभक्ति-चिह्नों और वाक्य-गठन के स्वरूप से प्रमाणित होती है। डॉ० के और डॉ० कॉल्डवेल ने विभक्ति-विवेचन द्वारा यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की कि बंगला द्रविड़ भाषा से उत्पन्न हुई। जैसे, हिन्दी का 'को' और बंगला का 'के' तातारी अन्त्यवर्ण 'क' से आया है। किन्तु यह मत कुछ समीचीन नहीं जँचता। मोक्षमूलर ने बंगला के बारे में

१. 'कृष्ण कर्णामृत'।
२. 'चैतन्य मंगल'।
२. 'गीत-गोविन्द' के एक अनुवाद से।

यह बताया है कि वह संस्कृत के 'स्व' अर्थ में 'क' के लिए आया है। गाथा-भाषा में इसका बहुत अधिक प्रयोग मिलता है। जैसे 'ललित विस्तर' में :

सुवसन्तके ऋतुवर आगत के राममोप्रिय फुल्लित पादप के।
तवरूप सुरूप सुशोभन के वसवर्त्ति सुलक्षण शोभन के॥

बंगला में अनेक ग्रन्थों और स्थलों में 'क' हू-बहू संस्कृत और प्राकृत की ही तरह प्रयुक्त हुआ है। जैसे :

भीष्मक भये यत सैन्य जाय पलाइया,
या
शिखण्डिक देखिया पाइबा अनुताप।

देशज शब्द

विभक्ति-विचार से भी यह आदिम असभ्य जाति की भाषा से उद्भूत हुई नहीं प्रमाणित होती। किन्तु जैसे फारसी-अरबी के बहुत सारे शब्द बंगला के निजी-से हो गए हैं, वैसे ही यह असम्भव नहीं कि अनार्य भाषा के भी अनेक शब्द इसमें आ मिले हों। बंगला के अभिधान में बहुत-से शब्दों को देशज की संज्ञा दी गई है। 'प्रकृतिवाद' अभिधान में लगभग २७ हज़ार शब्द हैं, जिनमें से कोई आठ सौ शब्दों को देशज कहा गया है। हो सकता है कि उनमें से बहुत-से शब्द अनार्य भाषा के हों, पर ज्यादा-तर तो वे संस्कृत या प्राकृत के ही बिगड़े रूप प्रतीत होते हैं।

पुराने शब्दों का नया रूप

बारहवीं सदी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'नाममाला' नाम की पुस्तक में उस समय के प्रचलित शब्दों की एक सूची दी है। वे शब्द या तो आज व्यवहार में आने वाले बंगला शब्दों-जैसे ही हैं या बहुत ही मामूली हेर-फेर से बंगला-शब्द बन जाते हैं। जैसे : **एक-से शब्द**—झड़ी (झड़ी), झाड़ (झाड़), खड़ (खड़), हेला (हेला), बल्ला (बल्ला), रोल (रोल), झला (झला), विहाण (विहान); और **बहुत सामान्य अन्तर वाले शब्द**—बप्प (बाप), झलसिय (झलसानो), तड़फड़िय (धड़फड़), धन्धा (धाँधा),

टिप्पी (टिप), पुप्फा (फूपा), ढंढल्ल (ढलढले), अल्लट-पल्लट (उलोट-पालट), उथल्ल-पथल्ला (उथल पाथल) पंखुड़ी (पापड़ि), पलोट्टइ (पालटानो), गड़ (गड़), डुम्ब (डोम) आदि।

अपभ्रंश भाषा

जिस पर से आधुनिक भाषाएँ खड़ी हुईं, प्राकृत के उस रूप को अपभ्रंश कहते हैं। इससे यह न समझें कि ये दो भिन्न भाषाएँ विभिन्न समयों में बोली जाती थीं। अपभ्रंश वास्तव में लोक-प्रचलित भाषा का ही नाम है। पहले इसे आभीरों की भाषा कहा जाता था, आगे चलकर यह लोक-भाषा ही कहलाई। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश कहा है। महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कहा है कि अपभ्रंश किसी देश विशेष की भाषा नहीं, बल्कि मागधी आदि विभिन्न प्राकृत भाषाओं का विकृत रूप एक मिश्रित भाषा है। बंगाल में सेन राजाओं के समय में किन्हीं अंशों में इसकी चर्चा होती थी, पर वैसा राज-सम्मान उसे प्राप्त नहीं था। साधारण जनता और विशेषकर बौद्ध सिद्धाचार्य तथा साधकों ने इसे खास तौर से अपनाया था। उन दिनों बंगला-पद भी ये बौद्ध सिद्धाचार्य ही लिखा करते थे। उनके पहले और किसी ने बंगला भाषा में विशेष कुछ नहीं लिखा है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

सिद्धाचार्यों के पद

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के प्रयत्न से नेपाल में 'चर्य्याचर्य्य विनिश्चय', 'बोधिचर्य्यावतार', 'डाकार्णव' आदि जो ग्रन्थ मिले, वे लगभग दसवीं-ग्यारहवीं सदी के हैं। शास्त्री महोदय ने उनमें से सिद्धाचार्यों के गीतों की एक पोथी की भाषा को हजार साल पहले की बंगला का रूप बताया है। इस मूल पुस्तक में ६१ पद थे—अब कोई ४६ पद ही प्राप्त हैं। प्रत्येक पद में पदकर्त्ता का नाम है, स्वर-संकेत है और उसकी संस्कृत-टीका भी है। इसकी भाषा दुरूह है और बंगला के स्वरूप से उसकी खासी दूरी भी दीखती है—किन्तु इन गीतों और जयदेव के पदों में गीति

कविता की जो धारा थी, वह बंगला-साहित्य में आज भी अबाध रूप से बह रही है।

आदि रूप का आनुमानिक काल

इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि आठवीं से बारहवीं सदी तक के अरसे में बंगला-भाषा का आदि रूप तैयार हो रहा था।

: २ :

आरम्भिक साहित्य की पृष्ठभूमि

तुर्की आक्रमण का प्रभाव

एक प्रकार से पूरी चौदहवीं सदी तक बंगला में लिखित साहित्य के किसी भी प्रयास का प्रमाण नहीं पाया जाता। बारहवीं सदी तक के जो तीन ग्रन्थ हैं—दो 'रामचरित' और 'गीत गोविन्द'—सब-के-सब संस्कृत के हैं। बारहवीं सदी का अन्त होते-न-होते बंगाल पर तुर्कों की फौज चढ़ दौड़ी। भारत तो आक्रमणकारियों का निशाना जाने कब से बनता रहा था, किन्तु संघर्षों की उस कटुता से दूसरे छोर पर बंगाल कतई अछूता रहा। शक-हूणों की करारी चढ़ाई हुई, उत्तर में तुर्क-पठानों के जुल्मो-सितम हुए, मगर बंगाल की शान्ति को आँच नहीं आई और न ही वे इस कड़वेपन को समझ पाए कि आक्रमण की बला क्या हो सकती है ? लिहाजा मुहम्मद-बिन-बख्तियार की खूँखार तलवार जब मगध में मौत की विभीषिका, लूट-पाट और खूँरेजी के भयानक दृश्य उपस्थित करती हुई बंगाल की सीमा में जा चमकी तो बे-खबर बंगाल से सामान्य प्रतिरोध भी करते नहीं बना। तुर्क पठानों की मुट्ठी-भर फौज के आगे बंगाल ने अनायास ही घुटने टेक दिए। पराजित जाति को जो अंजाम भोगने पड़ते हैं, बंगाल को वे सब नसीब हुए। देश की शान्ति जाती रही, सांस्कृतिक उत्थान के सारे मार्ग

बन्द हो गए। विद्या और साहित्य-साधना तो एकबारगी ठप पड़ गई और इस प्रकार कोई दो-ढाई सौ साल के लिए वह उन्नति की सभी दिशाओं में बे-तरह पिछड़ गया।

लोक-भावना की विरासत

बौद्ध-प्रभाव के तिरोधान और हिन्दुत्व के अभ्युत्थान के सन्धि-काल की जो अवधि रही, उस काल की लोक-भावना के कुछ निदर्शन परम्परा की कड़ी में गुँथे मिलते हैं, जो लोक-मुख में ही प्रचलित रहे और आगे की पीढ़ी को भावना की विरासत में मिले। ऐसे निदर्शन प्रशंसा-गीति, स्तुति-गीति और नीति के वचन हैं।

जैसे आज के प्रचलित प्रवाद में—'धान मानते महीपालेर गीत'। मदनपाल के ताम्र-शासन में इसका जिक्र है कि दूसरे महीपाल की कीर्त्ति-गाथा सर्वत्र गाई जाती थी। 'चैतन्य भागवत' में इसीका आभास है :

योगीपाल भोगीपाल महीपाल गीत।
इहा शुनिते ये लोक आनन्दित॥

बुद्ध-सम्बन्धी साहित्य की कमी

एक बात बड़ी अजीब-सी और अचरज की लगती है कि जिस बौद्ध-धर्म के प्रभाव की अपार प्रभुता बंगाल पर रही, निवृत्ति-मार्ग के उस उन्नायक निर्मल-चरित्र बुद्ध की मामूली वन्दना भी बंगला में नहीं पाई जाती। जयदेव के 'दशावतार-स्तोत्र' की नकल में जो-कुछ स्तुतियाँ बनी हैं, कहीं-कहीं नाम-मात्र को उनका उल्लेख-भर मिल जाता है। बंगाल में बौद्ध-धर्म के बड़े-से-बड़े विद्वान् हुए, अतीश दीपंकर, शीलभद्र, नालंदा-बिहार के अध्यापक शांत रक्षित आदि। जापान, कोरिया आदि तक बुद्ध के सन्देश पहुँचाने में बंगाल की संतानों ने बड़ा हाथ बटाया। हुएनसाँग के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि सातवीं सदी में उन्हें इन इलाकों में कोई साढ़े ग्यारह हज़ार पुरोहित मिले। उस हिसाब से शिष्यों की संख्या का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसा भी कहा जाता है कि जापान में

कुछ धर्म-ग्रन्थ ऐसे पाये गए हैं, जो ग्यारहवीं सदी की बंगला-लिपि में लिखे हुए हैं। जो भी हो, कुछ आन्तरिक प्रभाव के अतिरिक्त बौद्ध-प्रभाव और बुद्ध की अनुगतता के खास चिह्न नहीं पाये जाते।

बौद्ध-प्रभाव की कमी के कारण

बंगाल में पिछले दिनों निम्न श्रेणी के लोगों में 'धर्म-पूजा' की जो प्रथा चल पड़ी थी, बहुत-से लोग उसे बौद्धों की देन बताते हैं। धर्म-पूजा के प्रधान पण्डा रमाइ पंडित के 'शून्य पुराण' में शून्यवाद का कारण बौद्ध-प्रभाव ही है। ऐसे और भी कुछ परिचय उस प्रभाव का मिलता है। सच तो यह है कि ब्राह्मण धर्म ने इस प्रबलता से सिर उठाया और वह बौद्ध-प्रभाव को मटियामेट कर देने पर इस बुरी तरह तुल गया कि उसका ऐसा परिणाम हुआ, तो ताज्जुब नहीं।

बौद्ध-विरोधिता

वह विरोधिता कितनी प्रखर थी, यह इन कुछ बातों से ही जानी जा सकती है कि दश-अवतार में बुद्ध का नाम शामिल किये जाने के कारण एक लेखक ने विष्णु-विग्रह की पूजा का ही निषेध कर दिया, इसलिए कि बुद्ध बनकर विष्णु वेद-निन्दक बन बैठे। मनु ने **'अंग-बंग कलिंगेषु'** आदि श्लोक द्वारा बंगालवासियों से हिन्दुओं का सम्पर्क निषिद्ध बताया है, 'ऐतरेय आरण्यक' के भाष्यकार आनन्दतीर्थ ने बंगवासियों को पिशाच और राक्षस तक कह दिया है। तेरहवीं सदी में कृष्ण पण्डित ने अपनी 'प्राकृत-चन्द्रिका' में बौद्ध-प्रभावित बंगला को पैशाची प्राकृत की संज्ञा दे दी है।

धर्म ठाकुर की पूजा

धर्म ठाकुर की पूजा बंगाल में बहुत पहले से चली आती है। इस पूजा-पद्धति में बौद्ध-धर्म का स्पष्ट आभास मिलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने धर्म-पूजा को बौद्ध-धर्म की ही विकृति और रूपान्तर कहा है। बंगाल में बौद्धों का महायान धर्म समय से तान्त्रिक सहज यान में बदल

गया था। उसी तान्त्रिक सहज यान, नाथ-पन्थी शैव योगियों के धर्म मत और कुछ अनार्य विश्वासों के मेल से इसका उद्भव हुआ था। बहुत पहले से ही इनका अपना सृष्टि-तत्त्व था और इनकी पौराणिक कहानियों का देश में प्रचलन था। इस पूजा की प्रथा पहले समाज के निम्न वर्ग के लोगों तक ही सीमित थी, आगे चलकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी तक ब्राह्मणों में ही क्या, सारे उत्तर बंगाल में यह चल निकली। धर्म ठाकुर की कोई प्रतिमा नहीं बनती, चौड़े आकार का एक पत्थर ही उनके स्वरूप का प्रतीक है। १७वीं सदी आते-आते धर्म ठाकुर के स्वरूप में विष्णु और शिव की मूर्ति भी एकीभूत होने लगी और धीरे-धीरे यह पूजा ब्राह्मण-धर्म का भी अंग बन बैठी।

धर्म-पूजा का साहित्य

धर्म-पूजा के बहुतेरे ग्रन्थ मिलते हैं, जो दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। एक में तो पूजा-सम्बन्धी विधियाँ और तन्त्र-मन्त्र हैं, इन्हें धर्म-पूजकों का 'कड़चा' या 'धर्म-पुराण' कहते हैं। इनका वैसा कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। जो ग्रन्थ दूसरी श्रेणी में आते हैं, वे धर्म-मंगल-काव्य हैं। उनमें धर्म ठाकुर की गुण-गाथा गाई गई है एवं उनके माहात्म्य-सम्बन्धी लौकिक और पौराणिक कहानियाँ हैं। यद्यपि इनमें उपकथा और आख्यायिकाएँ पिरोई गई हैं, फिर भी उनमें एक काव्योचित ऐक्य है और इसलिए खेला-राम ने ऐसे धर्म-मंगल-काव्यों को गौड़ीय काव्य कहा है।

रमाइ पंडित का 'शून्य पुराण'

इन ग्रन्थों में जो सबसे ज़्यादा मशहूर है, वह रमाइ पंडित-कृत 'शून्य पुराण' है। इसमें ५१ अध्याय हैं, जिनमें से ५ तो सृष्टि-तत्त्व-सम्बन्धी हैं। और वह सृष्टि-तत्त्व महायान-सम्प्रदाय के मत से ही मिलता है। बाकी अध्यायों में विशेषतया पूजा-विधान है और।वे विधान बड़े ही विचित्र-से हैं। विषय-वस्तु की विचित्रता और अद्भुत शब्दावली के कारण बहुतेरे लोग इस पुस्तक को बहुत प्राचीन कहते हैं। धनराम के 'धर्म मंगल' में

रमाइ पंडित को राजा धर्मपाल द्वितीय के समय का बताया गया है। कहते हैं, धर्मपाल की साली रंजावती ने रमाइ पंडित से धार्मिक शिक्षा पाई थी।

'शून्य पुराण' का समय

श्री नगेन्द्रनाथ वसु (जिन्होंने 'शून्य पुराण' को प्रकाशित कराया है) भी रमाइ पंडित का समय ग्यारहवीं सदी मानते हैं। बहुत सम्भव है, उसमें कुछ अंश बहुत पुराने हों, पर भाषा को देखते हुए यह नहीं प्रतीत होता कि वह पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी से ज़्यादा पुरानी है। उसमें भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न लोगों के लिखे हुए अनेक छन्द संकलित हैं। जैसे 'निरंजन की उष्मा' उसका एक बड़ा ही मनोरंजक अंश है, जिसमें यह दिखाया गया है कि देवताओं ने किस प्रकार मुसलमानी वेश धारण किया। उसकी कुछ पंक्तियाँ :

धर्म हैला जबनरूपी माथाएते कालो टुपि
हाते सोभे त्रिरुच कामान।
चापिया उत्तम हय त्रिभुवने लागे भय
खोदाय बलिया एक नाम॥
निरंजन निराकार हैला भेस्त अवतार
मुखेते बलेत दम्बदार।
यतेक देवतागण सभे हैया एकमन
आनन्देते परिल इजार॥
ब्रह्म हैल मोंहाम्मद विष्णु हैला पेकाम्बर
आदम्फ हैल सूल पानि।
गणेश हइया गाजी कार्त्तिक हैल काजि
फकिर हइल्या जत मुनि॥
तेजिया आपन भेक नारद हइला सेक
पुरन्दर हइल मलना।
चन्द्र सूर्य आदि देवे पदातिक हय्या सेवे

सबे मिलि बाजाय बाजना।
आपुनि चंडिका देवी तिहु हलया हायाबिबि
पद्मावती हल्या बिबि नूर।

थोड़े में, निराकार निरंजन बहिश्त के अवतार हुए और जितने भी देवगण थे, खुशी-खुशी उन्होंने पाजामा अपनाया। ब्रह्मा मुहम्मद, विष्णु पैग़म्बर और स्वयं महादेव बाबा आदम बन बैठे। गणेश जी गाजी हुए, कार्तिक जी काजी और मुनिगण फकीर। बाबा नारद ने शेख़ साहब का रूप लिया और इन्द्र भगवान् मौलाना हो गए। चाँद-सूरज सब बजनियाँ बन गए। चण्डिका देवी जो हैं, सो हवा बीवी हो गईं और पद्मावती बीवी नूर बन बैठीं।

'अनिल पुराण' का अंश

पता चला है, यह कविता सहदेव चक्रवर्ती के 'अनिल पुराण' में पाई गई है, जो १८वीं सदी की रचना है। लिहाज़ा 'शून्य पुराण' कई समय के कई लोगों की रचनाओं का संकलन ही ठहरता है। यों उसके कुछ हिस्से पुराने शायद हों। 'धर्म मंगल'-सम्बन्धी और भी जो काव्य मिले हैं, सब सत्रहवीं-अठारहवीं सदी के ही हैं।

अन्यान्य धर्ममंगल-काव्य

धर्ममंगल-काव्यों में मयूर भट्ट को इस विषय का आदिकवि कहा गया है, मगर उनकी कृति का नामो-निशान नहीं मिलता। खेलाराम का 'धर्ममंगल' भी बहुत प्राचीन माना जाता है, पर उनका काव्य भी नहीं पाया जाता है। वीरभूमि के श्याम पण्डित का काव्य सत्रहवीं सदी के अन्तिम भाग का है और रूपराम की रचना भी उसी सदी की होगी। रामदास आदक और सीताराम के काव्य अठारहवीं सदी के हैं। लगता है, कि 'शून्य पुराण' की रचनाएँ इसी परम्परा की हैं और उसके पुराने अंशों में जोड़ दी गई हैं।

ग्राम-गीत और गाथा

'मयनाम तीर गान' और 'गोरक्ष-विजय' नाम के ग्राम-गीतों की परम्परा भी बड़ी पुरानी है। इस नाम से अनेक प्रकार की पोथियाँ प्राप्त हैं, जिनमें अनेक पाठान्तर होते हुए भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इनका मूल उद्गम किसी एक ही पुरानी गाथा से है। ये गीत ढाका, रंगपुर आदि क्षेत्रों में नाना रूपों में पाये जाते हैं और ऐसा विश्वास है कि बारहवीं सदी के आस-पास से इसकी शुरूआत हुई। जार्ज ग्रियर्सन साहब ने सन् १८७४ में 'माणिक चाँदेर गान' नाम की ग्राम-गाथा प्रकाशित की थी और उन्होंने माणिक चाँद को १४वीं सदी का माना था, बाद में उनका काल उन्होंने ग्यारहवीं सदी माना। गोरखनाथ उनके समसामयिक थे, ऐसा कहा जाता है। डॉ० भण्डारकर ने उन्हें बारहवीं सदी का माना है और राहुल सांकृत्यायन ने विक्रम की दसवीं सदी का।

भरथरी और गोपीचन्द

इन गीतों में भरथरी और गोपीचन्द के गीतों की एक अजीब खिल्त-मिल्त हो गई है। इतिहास के उन अँधेरे पक्षों को टटोलना उतना लाभ-जनक शायद न हो। इतना ही मान लेना पर्याप्त होगा कि इन गाथाओं का करुणा-स्रोत पुराना ज़रूर है और उसने बंगाल के जन-मन को एक समय खूब ही आलोड़ित किया है। गीतों की करुणा जी छूती है।

स्वाभाविक काव्य-सौष्ठव

इन गीतियों की मार्मिकता कहीं-कहीं तो बड़ी ही बारीकी का परिचय देती है। गोपीचन्द संन्यास लेने को हैं, पत्नी अदूना कहती है :

ना जाइयो, ना जाइयो राजा दूर देशान्तर।
कारे लागिया बान्धिलाम सीतल मंदिर घर॥
निन्देर स्वपने राजा हब दरसन।
पालंगे फेलाइब हस्त नाइ प्रानेर धन॥

दूरगिरिर माश्रो वइन रबे स्यामि लइबे कोले।
श्रामि नारि रोदन कोरिबो खालि घर मंदिरे॥
श्रामाके संगे करि लइया जाश्रो।
जीयव जीवन धन श्रामि कन्या संगे गेले।
रांधिया दिमु अन्न क्षुधार काले।
पिपासार काले दिमु पानि।

यानी राजा, दूर देशान्तर मत जाश्रो, मत जाश्रो। मैंने यह शीतल घर आखिर किसके लिए बाँधा? अब तो तुम्हारे स्वप्न में दर्शन होंगे। जब मैं पलंग पर हाथ फैलाऊँगी तो पाऊँगी कि प्राण-धन नहीं हैं। सबकी माँ-बहनें अपने-अपने पति के गले लगी रहेंगी, एक मैं अभागिन नारी अकेली घर में रोऊँगी। राजा, मुझे साथ ले चलो, मैं जी जाऊँगी। भूख लगने पर मैं तुम्हें पकाकर खिलाऊँगी, प्यास लगने पर पानी दूँगी।

गोपीचन्द ने जंगल की भयानक कठिनाइयाँ बताईं कि उसके जाने का हौसला पस्त हो जाय। मगर वह बोली—अजी, ये भी पतियाने की बातें हैं भला, स्वामी के साथ स्त्री जायगी और उसे बाघ मार खायगा? ये तो तुम्हारी छोड़ भागने की चालें हैं। खा ले मुझे बाघ, कोई परवाह नहीं। तुम बरगद का पेड़ होना, मैं लता हूँगी। उन रक्तिम चरणों को मैं लपेट लूँगी, जाश्रो तुम कैसे जाते हो। जब मैं मैके थी, तभी क्यों न संन्यासी हो गए थे?

के कय एगुलो कथा के श्रार पइताय।
पुरुसेर संगे गेले कि स्त्री के बाघे धरे खाय॥
श्रोगुलो कथा झुटमुट पालाबार उपाय।
खाय ना केने बनेर बाघ ताक नाइ डर।
तुमि हबू वटवृक्ष श्रामि तोमार लता।
राँगा चरण बेड़िया लमू पालाइया जाबू कोथा।
जखन श्राछिन् श्रामि माँ वापेर घरे।
तखनि केन धर्म्मि राजा ना गेलेन संन्यासी हइये॥

मैनामती और गोरक्ष-विजय

बड़ी सादगी है, बड़ी सीधी और चुभती-सी बात। भाषा और छन्द में भी कहीं बनावट नहीं है। जो भी हो, इस सम्बन्ध की जितनी भी पुस्तकें पाई गई हैं, उनमें से कोई भी दो-ढाई सौ साल से ज़्यादा पुरानी नहीं है, गाथा अवश्य पुरानी है। 'मैनामती' और 'गोरक्ष-विजय' के गीत एक ही युग के हैं और एक ही सम्प्रदाय के लोगों के रचे हुए हैं। दोनों की पृथक् पोथियाँ होते हुए भी केवल विषय-वस्तु का ही साम्य नहीं है, दोनों की पंक्तियाँ भी बे-तरह टकरा जाती हैं। जैसे :

कारो पोखरिर पानि केह नाहिं खाय।
मणि माणिक्य तारा रोद्रते शुखाय॥

यह 'गोरक्ष-विजय' में कदलीपत्तन की खुशहाल प्रजा की बात है। किसी के पोखर का पानी कोई नहीं पीता—मणि-माणिक्य वे धूप में सुखाते हैं। इतनी समृद्धि और ऐसी बे-फ़िक्री! माणिक चन्द्र की प्रजा की बाबत 'मैनामती के गान' में ठीक यही लिखा है :

हीरा मण माणिक्य तलिते शुखाइत।
काहार पुष्करिणीर चल केह ना खाइत॥

'गोरक्ष-विजय' में लिखा है कि चिराग़ गुल हो जाय तो नेह क्या करेगा, खेत में से पानी निकल जाय तो मेड़ बाँधने का क्या नतीजा? जड़ अगर कट जाय, तो गुरुजी, गाछ की जिन्दगी नहीं रहती। भला पानी बिना मछली के जीने की बात भी आपने सुनी है?

प्रदीप निबिले गुरु कि करिबे तेले।
आइल बाँधिया किवा फल जल आगे गेले।
मूल काटा गेले गुरु ना जीयये गाछ।
बिनि जले कथात शुनिछ जीये माछु।

जो बात इसमें गुरु के प्रति कही गई है, वही बात मैनामती के गान में रानी ने अपने पुत्र गोबिन्दचन्द्र से कही है। शब्द-शब्द का मेल। केवल 'गुरु' के बदले 'बापू', 'आगे' के बदले 'छुटि', 'मूल' के बदले 'शिकड़' और

'माहु' के बदले 'माछ'—इतना ही फर्क है।

प्रदीप निविले बापू कि करिबे तेले।
आइल बाँधिले किबा फल जल छुटि गेले॥
शिकड़ काटिले बापु आपनि पड़े गाछ।
बिनि जले कथाय त शुखनाय जाय माछ॥

इन गीतों में ग्रामीण जीवन का सरल बाँकपन, हृदय की निष्कपट भावना पाण्डित्य के आडम्बर से रहित सादे शब्दों में उतर-उभर आये हैं। किन्तु इनकी कीमत इसीसे आँकी जा सकती है कि इन्हींमें आये हुए प्रवाद, मुहावरे आदि से आगे का साहित्य सम्पन्न हुआ है।

व्रत-कथा और रूप-कथा

इन ग्राम-गाथाओं की तरह कुछ प्राचीन व्रत-कथा और रूप-कथाएँ भी हैं, जो परम्परा से चली आ रही हैं और बहुत पुरानी हैं। लोक-मुख में सदियों से आती हुई उन कथाओं की भाषा आज बहुत परिवर्त्तित जरूर हो गई है। फिर भी कई कारणों से उनकी प्राचीनता पर आस्था होती है। उनमें जिन देवी-देवताओं के जिक्र आये हैं, वे राम-लक्ष्मण या इन्द्र चन्द्र नहीं, बल्कि ग्राम्य-देवता हैं, इन्हींकी पूजा-पाठ और भोग-राग की विधि चली आती है। ऐसी व्रत-पूजाओं में थूया, मादालि, धाता-काता के नाम लिये जा सकते हैं। भाषा में भी पुरानापन बहुत हद तक कायम है। जैसे :

थूया पूजि थुटालि। अघन मासेर भँयालि॥
टेंकी पड़न्त। गाय बियन्त।
अकाले भातन्ति। अकाले पूतन्ति।

गाथा-कथा की प्राचीनता

इनकी प्राचीनता का विश्वसनीय प्रमाण एक कहानी है कि इनका प्रचार समान रूप से मुसलमानों में भी है। हिन्दुओं के राम-लक्ष्मण या अन्य देवी-देवता उनके संस्कार में नहीं पच पाए, किन्तु इनके साथ उनका संस्कार जैसे घुला-मिला है, इनसे उनका जैसे एक निजत्व है।

गीति-कथाओं के मुस्लिम लेखक

इसका कारण शायद यह हो कि मुसलमान होने के पहले बंगाल के मुसलमान हिन्दू या बौद्ध ही थे। तेरहवीं या चौदहवीं सदी में उन्होंने इस्लाम कबूल किया। फलस्वरूप उसके पहले ये चीजें उनकी नितान्त निजी थीं और रक्त-मज्जा और भावना में समा गई थीं। इसीलिए मुसलमान होने के बावजूद उनसे उनका वही सम्बन्ध रह गया। कंचनमाला, शंख-माला, पुष्पमाला, मालंचमाला आदि रूप-कथाओं के साथ उनके हृदय का एक योग रह ही गया और आज भी उनमें वे हिन्दुओं के समान ही प्रच-लित रह गई हैं। उनमें की बहुत-सी नारी-धर्म की बातें हिन्दू-रमणी की तरह मुस्लिम औरतें भी मानती हैं। ऐसे मुसलमान भी हैं, जो 'लक्ष्मी की पाँचाली' गाकर अपनी जीविका कमाते हैं। इन गीति-कथाओं को आज के अनेक मुस्लिम लेखकों ने भी लिखा है। मुस्लिमों की वैसी कुछ पोथियों के नाम हैं—'मधुमालार केच्छा', 'मालंचमालार केच्छा', 'सती बीबीर केच्छा' (केच्छा यानी किस्सा), 'शीत बसंतेर पुंथि', 'सापेर मन्तर', 'मालती कुसुम माला' आदि-आदि।

मंतर-जंतर पर पुराने समय से ही मुसलमानों का आधिपत्य-सा रहा है और उन मन्त्रों में भी हिन्दू देवी-देवताओं के नाम आते हैं। फिर भी वे इसकी सिद्धि करते हैं। वैसे एक मंतर का नमूना :

> **हस्त सारम् गला सारम् आर सारम् मुख।**
> **पेट पीठ चरण सारम् आर सारम् बुक॥**
> **पेट पिठ चरण साति मनसार बरे।**
> **लक्ष-लक्ष वाण अमुकेर कि करिते पारे॥**
> **काँगरेर कामिक्षि देवी दिया गेल वर।**
> **बालिर बिन्द राजा बले अमुक हैला अमर॥**

रूप-कथाओं की विशेषता

इन रूप-कथाओं में नारी-चरित्र की सरल-पावन दिशा का सुष्ठु संकेत

है, उनके हृदय का अमृत भण्डार, चरित्र-बल, लज्जा, त्याग और तपस्या का जीता-जागता स्वरूप है। डॉ० दिनेशचन्द्र सेन ने उन रूप-कथाओं के लिए लिखा है : **'ये शिशुओं के आमोद-उत्स हैं, युवकों की प्रेम-पिपासा के अमृत हैं और वृद्धों के शास्त्र हैं।'** इनमें प्रवाद-वचनों की तो ऐसी भरमार है, जिनसे साहित्य को एक शक्ति और समृद्धि मिली है। केवल 'शंखमाला' की कहानी में ही कोई २०३ मूल्यवान चरण हैं। कुछेक उदाहरण :

धन रत्न कड़ि । ना बियालेय बुड़ि ।

यानी धन, रत्न और कौड़ी (रुपये-पैसे के अर्थ में) न बढ़ने से बूढ़ी हो जाती हैं।

चोखेर मणि । दुःखेर खनि ।

आँखों का तारा दुःख की खान होता है।

था कि अथा । बोलते पारे पद्मेर पाता ।

पानी की थाह है या अथाह, यह तो कमल का पत्ता ही कह सकता है।

दशेर कथा । वेदेर पाता ।

दस की बात, वेद-वाक्य जानिये।

तुमि कार झियारी कार बौ । कार छातेर भरा मौ ।

तुम किसकी घरनी हो, किसकी बहू, किस छत्ते की तुम भरी शहद हो।

कत स्वपन हासे । कत स्वपन भासे ।

कितने सपने हँसते हैं और कितने तिर-तिर आते हैं।

एक जे आगुनेर शिख । सप्तदिक ।

आग की एक तो लपट, सातों दिशाओं में उजाला।

डाक और खना के वचन

डाक और खना के वचन सम्भवतः इनसे भी पुराने हैं। उनमें वास्तविक बंगला-भाषा की प्राक्-प्रचेष्टा के निदर्शन हैं। सदियों से लोक-मुख में मँजते-मँजते आज वे बहुत अंशों में सरल-सहज हो आए हैं। प्रचलित

चाहे वे जिन नामों से ही क्यों न हों, वास्तव में जातीय सम्पत्ति हैं और उनकी रचना में जानते-अनजानते हर व्यक्ति का सहयोग है। बीरबल, गोनूझा, गोपाल भाँड़, इनके नाम से जो चुटकुले आज लोगों में फैल गए हैं, वे सारे उन्हींके रचे हुए नहीं हैं। समय-समय पर दूसरे-दूसरे लोग भी वैसी चीजें रचकर उनमें जोड़ देते रहे हैं। डाक और खना के वचन भी ठीक वैसे ही हैं। उनमें कवित्व नहीं है, शब्द-सौष्ठव नहीं है, इसलिए उनका साहित्यिक मूल्य नहीं भी माना जा सकता, पर सादगी में, संक्षेप में जो सत्य सामने आता है, वह प्रत्येक व्यक्ति को जँच जाता है। यही कारण है कि काल की इस लम्बी कड़ी में वे आज भी गुँथे चमकते हैं। डाक के वचन में ज्योतिष और क्षेत्र-तत्त्व की बातें भरी पड़ी हैं और मानव-चरित्र की व्याख्या भी है। लगता है, उसकी व्यावहारिक मँजाई अपेक्षाकृत कम हुई है—इसलिए उसकी भाषा का वैसा संस्कार न होकर कुछ पुरानापन उसमें रह गया है, किन्तु खना की बातें जैसे आज की ही हों, क्या विषय में और क्या भाषा में।

डाक कौन थे ?

डाक को बंगाल का तुकरात कहा गया है, कहा जाता है, जन्मते ही डाक ने अपनी माँ को पुकारा था। इसलिए उसका नाम डाक पड़ा। 'डाक' के मानी बंगला में पुकार है। कोई-कोई कहते हैं, डाक का जन्म आसाम के 'लोहि डाँगरा' में हुआ था, जो आज भी 'लोहू' नाम से मौजूद है। किन्तु आसाम का डाक, पता चला है, कुम्हार था और यह गोप। आसाम, उड़ीसा, बंगाल, बिहार तमाम में डाक के वचन कहे-सुने जाते हैं। इससे यह तो विश्वसनीय नहीं लगता कि वह व्यक्ति-विशेष का ही दान है। बौद्ध-युग में सिद्ध होकर कुछेक पद बना लेने वाली को डाकिनी कहा जाता था, यह डाक शायद उसीका पुरुषवाची शब्द हो। नाम-गाम की तरह उसके समय के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भाषा को देखते हुए इतना ही अनुमान सम्भव है कि वे वचन तब के हैं, जब बंगला बनने के क्रम में थी।

नारी-लक्षण

अच्छी और बुरी औरत के लक्षण डाक ने बहुत सुन्दर दिये हैं। वे कहते हैं :

सुशीला, शुद्ध वंशे उत्पत्ति।
मिठ बोल, स्वामि ते भकति॥
रौद्र काँटा कुटाय राँधे।
खड़ काठ वर्षा के बाँधे॥
काँखे कलसी पानी के जाय।
हेंटमुण्डे का कहो ना चाय।
जेन जाय तेन आइसे।
डाक बले गृहिणि सेइसे।

यानी सुशीला, अच्छे कुल की, मिठबोली और पति में भक्ति रखने वाली होती है। गरमी के दिनों काँटा-कुटाय यानी झाड़-पात से रसोई बना लेती है और बरसात के लिए लकड़ी पुआल जुगाकर रखती है। कमर पर मटकी लिये पानी के लिए जाते वक्त नज़र झुकाए चलती है, उझककर किसीको झाँकती नहीं। गई नहीं कि वापिस आती है। डाक का कहना है, गृहिणी वह है।

अब जरा कुगृहिणी के भी लच्छन सुन लीजिये :

घरे आखा, बाइरे राँधे।
अल्प केस फुलाइया बाँधे॥
धन-धन चाय उलटि घाड़।
डाक बले ए नारि घर उजाड़॥

अर्थात् चूल्हा तो घर रहा, रसोई बाहर बनाती है। थोड़े-से बाल हैं, फुला-फुलाकर सँवारती है। बार-बार गरदन घुमाकर ताकती है। ऐसी जो औरत हुई, तो घर-उजाड़ ही जानिये।

नियड़ पोखरि दूरे जाय।
पथिक देखिये आउड़े चाय॥

पर संभाषे बाटे थिके।
डाक बले ए नारि घरे ना टिके।

अर्थात् पोखर पास रहने पर भी पानी को दूर जाती है। बटोही को आड़ी चितवन से देखती है, बाहर खड़ी-खड़ी बिरानों से बतराती है; डाक कहता है, ऐसी औरत घर में कभी नहीं टिक सकती।

खना और उसके वचन

इनके अलावा नीति और उपदेश के अनेक अकाट्य वचन हैं। 'खना' के वचन से तो घाघ-भडरी की याद आ जाती है। गृहस्थी और खेती के सम्बन्ध की उसकी कहावतें हर जबान पर लगी हैं। 'खना' के बारे में बहुत तरह की कथाएँ कही जाती हैं, जो कि विश्वासयोग्य नहीं हैं। वह बराह-मिहिर की स्त्री कही जाती है, जो कि ठीक शायद नहीं है। उसके स्त्री होने में भी संदेह ही है। हो सकता है, क्षण की बातें कहने के कारण लोगों ने उसे क्षणा (खना) कहना शुरू कर दिया हो। जो भी हो, खना की बातें बड़ी मूल्यवान और लोकप्रिय हैं। जैसे खेती के बारे में :

खना डेके बोले जान।
रोदे धान छायाय पान॥
दिने रोद राते जल।
ताते बाड़े धानेर बल॥

खना का कहना है, धूप में धान होता है, छाया में पान। दिन में धूप और रात में पानी हो, तो धान जोरदार होता है।

संतति-निर्णय—

जय मासेर गर्भ नारीर नामे ज अक्षर।
जय जन शुने पक्ष दिये एक कर॥
साते हरि चन्द्र नेम बाण यदि रय।
एते पुत्र परे कन्या जानिह निश्चय॥
हरिते सकल अंक यदि रहे सात।
बराहमिहिरे बले हय गर्भपात॥

जितने मास का गर्भ हो, उसकी, गर्भिणी के नाम और सुनने वालों के नाम की अक्षर-संख्या के साथ पन्द्रह (पक्ष) जोड़ दो; जोड़ को सात से भाग दो, इस तरह से अंक जोड़ा बचे तो जानो लड़की, अयुग्म बचे तो लड़का और कुछ न बचे तो समझो कि गर्भ-पात होगा।

वर्षा-फल—

यदि बर्षे आगने ।
राजा जान माँगने ॥
यदि वरषे पौषे ।
कड़ि हय तुषे ।
यदि वरषे माघेर शेष ।
धन्य राजा पुण्य देश ॥

यानी अगहन (अगने) में बरसे तो राजा को भी भीख की नौबत आ जाय। यदि कहीं पूस में पानी पड़े तो राख (तुष) में भी पैसे होंगे। और माघ का अंत कहीं बरस जाय तो समझो धन्य है वहाँ का राजा, पुण्य है वह भूमि।

: ३ :

आदिकालीन साहित्य की रूपरेखा

सामाजिक निष्क्रियता

अपने आदिकाल में बंगला भाषा और उसका साहित्य क्या और कैसा था, इसकी चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर आए हैं। हिन्दू धर्म की जो जागृति नये सिरे से हुई, उसकी चेतना बड़ी जोरदार थी। उसकी वजह से बौद्ध धर्म की बुनियाद तो यहाँ से जरूर उखड़ गई, पर बौद्ध-भाव की जो छाप हिन्दू-हृदय में गाढ़ी हो गई थी, उसके अहिंसा-तत्त्व से सामाजिक जीवन की नस-नस में विरक्ति और उदासीनता का एक तीखा ज़हर फैल गया था। उससे जो एक सार्वजनिक निष्क्रियता आ गई थी, उसका एक बहुत ही बुरा नतीजा बंगाल को भोगना पड़ा। तुर्कों की जो थोड़ी-सी फौज बंगाल पर पिल पड़ी, भले लड़के की तरह तनिक भी विरोध या चीं-चपड़ किये ही बंगाल ने उसकी अधीनता कुबूल कर ली। इसका परिणाम यह हुआ कि एक अजीब भीतरी अव्यवस्था फैल गई। शिल्प-साहित्य की उन्नति के लिए जो सुख-शान्ति जातीय जीवन के लिए जरूरी है, उसकी बू-बास भी न रही। और इसीलिए तुर्कों की चढ़ाई के बाद पूरे दो सौ वर्षों तक—तेरहवीं-चौदहवीं सदी—बंगाल की साहित्य-साधना की सक्रिय चेष्टा की कोई भी उल्लेख-योग्य सामग्री नहीं मिलती।

कुछ पल्ली-गीतिकाएँ

'श्यामराय', 'आँधावँधू' और 'धोपार पाट' आदि जो कुछेक पल्ली-गीतिकाएँ पाई गई हैं, कई ऐतिहासिकों का कहना है, ये उसी अरसे की रचनाएँ हैं। हो सकता है, लोक-कथा-परम्परा की कड़ी में ही ये भी हों, पर दो सदियों की अवधि को देखते हुए उस साधना की कोई कीमत नहीं होती। वास्तव में तो पन्द्रहवीं सदी से ही बंगला-साहित्य-साधना का एक बहुमुखी स्रोत विकासोन्मुख होता है, जो आज भी एक प्रकार से अविच्छिन्न बहता आ रहा है।

साहित्य का युग-विभाजन

बंगला-साहित्य को अगर हम युगों में बाँटकर देखना चाहें, तो गति और रूप को देखते हुए मोटा-मोटी उसे पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—आदि काल; आरम्भिक विकास-काल; विकास-काल; आधुनिक काल और अत्याधुनिक काल। भाव और रचनागत रूप-वैशिष्ट्य के मुताबिक और अन्तर्युगों का विभाजन भी सम्भव है, पर उस उलझन में जाने की ज़रूरत नहीं। अवधि के अनुसार ऊपर लिखे युगों की सीमाएँ सुविधा के लिए इस प्रकार बाँटी जा सकती हैं—

आदि काल : नवीं से बारहवीं सदी तक।

आरम्भिक विकास-काल : तेरहवीं से पन्द्रहवीं सदी यानी चैतन्य-पूर्वकाल।

विकास-काल : सोलहवीं से आधी अठारहवीं सदी—चैतन्योत्तर काल।

आधुनिक काल : आधी अठारहवीं सदी से रवीन्द्रनाथ तक।

अत्याधुनिक काल : वर्तमान, रवीन्द्रोत्तर-काल।

मुस्लिम दरबार द्वारा भाषा का पोषण

तुर्कों की जीत के बाद एक लम्बे अरसे तक साहित्य-सर्जना के स्रोत में भाटा-सा पड़ गया था। मुस्लिम-आधिपत्य-जनित उसके अनेक कारण होंगे,

यह नहीं था कि जान-सुनकर मुसलमानों की ओर से उसके लिए कोई रोक-थाम थी। बल्कि इस ओर बंगाल देश पर मुसलमानों का एक ऐसा ऋण है, जो कभी चुकाया नहीं जा सकता। बंगला-साहित्य पर जिस दिन घोर संकट और आपत्ति की सूचना हुई थी, उस दिन मुसलमानी दरबार ही में उसे पनाह मिली और उसका सौभाग्य फूला-फला। ऐसा न होता, तो बंगाल शास्त्र और संस्कृत के ही दो छोरों पर बँधा रहता, विकासोन्मुख साहित्य सिर धुनकर दम तोड़ देता। इस महान् दुर्भाग्य से बचाकर बंगला को अपना अलग अस्तित्व कायम करने का मौका बहुत हद तक मुसलमानों ने ही दिया।

बंगला-विरोधी वातावरण

बंगला के लिए सौभाग्य का एक दिन वह आया था, जब बौद्धों ने उसे धर्म-प्रचार के लिए माध्यम के रूप में अपनाया था। किन्तु उसे पनपने का वह सुयोग ज्यादा दिनों तक नहीं मिल सका। हिन्दुत्व का फिर से जो जागरण हुआ, उसमें सहज भाषा के लिए विषैली विरोधिता भी जागी। बौद्धजन तो बे-तरह पीड़ित किये ही गए, बंगला भी उस धार्मिक कट्टरता का शिकार हो गई। नये धर्म के साथ फिर से संस्कृत की दुहाई दी जाने लगी। जो धर्म-ग्रन्थों को बंग-भाषा द्वारा लोगों में ला रहे थे, उनकी घनघोर निन्दा ही नहीं हुई, बल्कि वे सताये भी गए। उनके खिलाफ़ श्लोकों की रचना की गई, पद्य बनाकर प्रचारित किये गए। 'रामायण' और 'महाभारत'-जैसे ग्रन्थों के बंगानुवाद करने वाले कृत्तिवास, काशीदास आदि को सर्वनाशी कहा गया :

कृत्तिवेसे काशीदेसे आर बामुन घेंसे।
एइ तिन सर्वनेशे॥

भाषा में रामायण, पुराणादि सुनने वालों को सीधा रौरव भेज दिया गया :

अष्टादश पुराणानि रामस्य चरितानि च।
भाषायां मानवः श्रुत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्॥

भाषा-विरोधिता के कारण

ये बातें महज बातों तक ही महदूद होतीं तो एक बात थी, भाषा के हिमायतियों की दुर्गत बनाने में भी कोई कसर बाकी नहीं रखी गई। प्रसिद्ध वैष्णव कवि चण्डीदास के पीछे समाज हाथ धोकर पड़ गया, उनकी निन्दा रटाई गई, उन्हें जाति से निकाला गया और जाने क्या-क्या किया गया। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों पर भी ऐसी ही बुरी बीती। इस विरोध का एक और भी पहलू था। हिन्दुत्व के इस पुनर्जागरण के साथ देश में नई चेतना की वह हवा भी बहकर आई, जिसने नेतृत्व की बागडोर पर ब्राह्मणों का ही एकाधिपत्य नहीं रहने दिया बल्कि ब्राह्मणेतर लोग भी आगे आये। कबीर, रैदास, दादू, तुकाराम की तरह बंगाल के साहित्य-साधकों में वैसों की बहुत बड़ी जमात हो गई। चैतन्य के अनुयायियों में भी वैसे लोगों की संख्या खासी थी। इन कारणों से वह कट्टरता और भी उग्र हो आई थी।

इलियासशाह का शासन-काल

धर्म, भाषा और शिल्प-साहित्य की उन्नति बहुत अंशों में राज्याश्रय पर अधिक निर्भर करती है। सोने का वह संयोग बंगला को मुसलमानी दरबार में मिल गया। चौदहवीं सदी के मध्य में शम्सुद्दीन इलियासशाह ने दिल्ली के बादशाह की अधीनता के तौक को बगाल के गले से उतार फेंका और बंगाल में स्वाधीन सुलतान- शासन कायम किया। तत्काल ही ऐसा अवसर तो न आ सका कि साहित्य के लिए सृष्टि की धूम पड़ जाय, पर तब से शान्ति और सुव्यवस्था के थोड़े-बहुत आसार नजर आने लगे और साहित्य-साधना की जमीन तैयार होने लगी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी में सुलतानों एवं मुस्लिम राज-कर्मचारियों ने प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर बहुत सारी रचनाएँ कराईं। यों मुसलमान जहाँ से और जितनी दूर से भी चाहे आये, बंगाल के लिए उनमें सहज आत्मीयता उपजी। वहाँ के सामाजिक आचार-विचार, पर्व-उत्सव, गीत-नृत्य, देवी-देवता धीरे-धीरे उनके भी अपने-से हो आए। 'रामायण' और 'महाभारत' में प्रभाव की एक अजीब शक्ति थी, उस शक्ति

ने भी उनके जी को छुआ। किन्तु संस्कृति के दुर्भेद्य किले के अन्दर से उस रस का उद्धार उनके लिए सम्भव नहीं था। इसलिए उन्हें भाषा के सहज साँचे में ढलवाने की उत्कट इच्छा हुई और उस इच्छा को रूप देने की कोई कोशिश उन्होंने उठा नहीं रखी। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से धीरे-धीरे शास्त्र-ग्रन्थों तथा काव्यों के अनुवाद होने लगे।

'परागली महाभारत'

'महाभारत' का बंगला में सबसे पहला अनुवाद नासिर शाह ने कराया था। उसकी प्रति तो अभी तक नहीं मिली है, पर उसका प्रमाण जरूर मिला है। हुसैनशाह, (जिनका जिक्र आगे आयगा,) ने मगों को दमन करने के लिए अपने एक सेनापति को चटगाँव भेजा था। उसका नाम था परागल खाँ। अपने नाम से उसने वहाँ परागलपुर गाँव भी बसाया था। उन्होंने कवीन्द्र परमेश्वर से 'महाभारत' का अनुवाद कराया था, 'परागली महाभारत' के नाम से वह बहुत ही मशहूर है। इस 'महाभारत' में स्त्री पर्व तक लिखा गया है और कुल मिलाकर १७००० श्लोक हैं। उसी 'महा-भारत' में यह उल्लेख मिलता है कि नसरत खाँ ने पांचाली की रचना कराई थी :

श्री युक्त नायक से जे नसरत खान।
रचाइल पांचाली जे गुणेर निदान॥

विद्यापति की भणिता में भी नासिर शाह का नाम मिलता है :

से जे नासिरसाह जाने जारे हनल मदन बाने।
चिरंजीव रहु पंच गौड़ेश्वर कवि विद्यापति भाने॥

पंचगौड़ या पंचशाखा

पदों की भणिता में इस पंचगौड़ेश्वर का समावेश बहुत मिलता है। उसका एक कारण है। मुस्लिम-विजय से कुछ दिन पहले तक भी सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, मिथिला, उत्कल—ये पाँच-भूभाग पंचशाखा या पंचगौड़ कहलाते थे। बील ने हुएनसाँग का जो भ्रमण-वृत्तान्त लिखा है,

उसमें भी गौड़ेश्वर के लिए 'लार्ड आव दि फाइव इंडीज' लिखा है। इन पंच शाखाओं में पहले बड़ी घनिष्ठता थी और बंगाल ने आदान-प्रदान में उनसे बहुत-कुछ पाया है।

बंगाल को मिथिला का दान

मिथिला से बंगाल को भाषा का दान, लिपि और संस्कृति की शिक्षा मिली है। विद्यापति की ललित भाषा ने बंगला को इतना प्रभावित किया कि वहाँ के पदकर्ताओं ने धड़ल्ले से अनुकरण किया। फलस्वरूप मैथिली और बंगला की खिचड़ी पककर 'ब्रजबुली' बन गई। बंगाल का सारा वैष्णव-साहित्य उसीमें है, यहाँ तक कि रवीन्द्रनाथ ने भी ठाकुर भानुसिंह की पदावली उसीमें शुरू से अखीर तक लिखी है। मैथिली अक्षर भी बंगला में अपनाया गया था। मैथिली लिपि में 'ब' के नीचे बिंदी दी जाती है, बंगला की अनेक पुरानी पोथियों में वैसा ही 'ब' पाया गया है। कान्य-कुब्ज ने पंच ब्राह्मण और पंचकायस्थ बंगाल को भेजा था। साथ ही पांचाली गीत की जो परम्परा पुराने बंगला-काव्य में चल पड़ी थी, वह भी पांचाल का ही दान है, ऐसा लोग-बाग कहते हैं।

पांचाली

अठारहवीं सदी तक बंगला-साहित्य की धारा मूलतया गीति-मूलक थी। ये अकेले या सामूहिक तौर पर मृदंग-मँजीरे के साथ गाये जाते थे। कई लोग कहते हैं, चूँकि पांचालिका या कठपुतली के नाच के साथ वे काव्य गाये जाते थे, इसलिए उनका नाम पांचाली पड़ा और रूढ़ हो गया। काव्य-मात्र को पांचाली कहा जाने लगा—जैसे भारत पांचाली।

विजय या मंगल-काव्य

बंगला में सन्-तारीख से युक्त जो पहला कृष्णलीला-विषयक काव्य मिला है, वह कवि मालाधर बसु का है। यह काव्य कवि से रुक्नुद्दीन बार्बक शाह ने सात वर्षों में—सन् १४८१-८७—लिखाकर पूरा कराया था। उनके काव्य का नाम है, 'कृष्ण-विजय।' इसीको लोग 'श्रीकृष्ण मंगल' या 'गोविन्द

मंगल' भी कहते थे। उन दिनों पांचाली में देवता या देवता के समान पुरुष के गुण-कीर्तन की परिपाटी थी, इसलिए वैसे काव्यों को विजय या मंगल शब्द से युक्त कर दिया जाता था। पहले इस अर्थ में इस शब्द का व्यवहार जयदेव ने ही किया था।

सुलतान हुसैन शाह

परागल खाँ के पुत्र छोटे खाँ ने भी श्रीकर नन्दी नाम के कवि से 'महाभारत' अश्वमेध पर्व का अनुवाद कराया था। साहित्य और विद्या-चर्चा में सुलतानों में सबसे ज्यादा मशहूर हुसैन शाह हुए। पहले ये एक मामूली-से कर्मचारी थे पर अपनी योग्यता से खासी शक्ति बटोरकर उन्होंने राजगद्दी पर कब्जा जमा लिया। सुलतान होने पर उन्होंने अपना नाम रखा, सैयद अलाउद्दीन हुसैन मुजफ्फर शाह शरीफे-मक्की। यों ये पहले खासे हिन्दू-विरोधी थे और बहुत सारी मूर्तियाँ तोड़ी थीं। बाद में विद्या और साहित्य-चर्चा में उन्होंने आशा से अधिक उत्साह दिखाया। उनके दरबार में शास्त्र और काव्य की नियमित आलोचना होती थी। अच्छे-अच्छे विद्वान् और कवि पलते थे। उन्होंने साहित्य की श्री-वृद्धि में खूब हाथ बटाया और थोड़े दिनों में बड़े ही यशस्वी तथा लोकप्रिय हो उठे। श्रीकरनन्दी के महाभारत-अनुवाद में परोक्ष रूप से उन्हींका हाथ रहा था। यशोराज खान उन्हींके कर्मचारी थे, जिन्होंने कृष्ण-लीला पर एक काव्य लिखा था। 'भणिता' में हुसैन शाह का नाम आया है :

साह हुसैन जगत भूषण सेह येह रस जाने।
पंच गौड़ेश्वर, भोग पुरंदर माने यशोदराज खाने ॥

पंद्रहवीं सदी के आखिरी दशाब्द में जो 'मनसा-मंगल' काव्य लिखा गया, उसमें भी हुसैन शाह का नाम आया है :

सनातन हुसैन शाह नृपति तिलक।

हुसैनी साहित्य-काल

उनके किये उस युग में साहित्य में एक नवीन चेतना और नया जीवन

आया। बंगला भाषा और साहित्य के इतिहासकार दिनेशचन्द्र सेन ने तो लिखा है : **'इस सम्राट् के नामानुसार साहित्य के गौड़ीय युग में एक खण्डयुग सीमित करके उसे 'हुसैनी साहित्य-काल' कहा जाय तो अनुचित न होगा।'** उनके राजत्व-काल की एक अविस्मरणीय घटना यह भी है कि वैष्णव-धर्म के परम उन्नायक और साहित्य में नवजागरण के मन्त्र-दाता महाप्रभु चैतन्य का आविर्भाव भी उसी समय (सोलहवीं सदी में) हुआ।

मुसलमानों की साहित्य-साधना

मुसलमानों का श्रेय सिर्फ इतना ही नहीं रहा कि उन्होंने रचनाकारों को आश्रय और उत्साह दिया, बल्कि बहुतेरों ने स्वयं बंगला में रचनाएँ भी कीं। कृष्ण-लीला के एक कवि यशोराजखान की चर्चा अभी हमने की है। आराकान-दरबार के वज़ीर मगन ठाकुर (ठाकुर से भ्रम न हो, ये मुसलमान थे।) के आदेश से कवि अलाइल ने जायसी के 'पद्मावत' के आधार पर 'पद्मावती' की रचना की थी। 'सैफुलमुल्क', 'वदीउज्ज-माल', 'तोहफा', 'सिकन्दरनामा' आदि अलाउल की और भी रचनाएँ हैं, पर सबमें श्रेष्ठ, सुन्दर और लोकप्रिय 'पद्मावती' ही बन पड़ी है। अलाउल सत्रहवीं सदी के एक समर्थ कवि थे। वे रहने वाले तो फरीदपुर के जलाल-पुर के थे। एक बार वे अपने पिता के साथ नाव पर कहीं जा रहे थे। राह में पोर्तगीज जल-दस्युओं ने उनके पिता को मार डाला। लाचार वे आराकान में मगन ठाकुर की पनाह में पहुँचे। उनमें खासी प्रतिभा थी।

पद्मावती-काव्य

'पद्मावती' में उनकी काव्य-प्रतिभा का ही परिचय नहीं है, पाण्डित्य भी है। रगण-मगण आठ महागण, आठ नायिका-भेद, विरह की दस दशा आदि का उसमें बारीकी से विचार भी किया है। बहुत जगह जायसी से उनकी पंक्तियाँ हू-बहू टकरा जाती हैं। जैसे :

सुमिरो आदि एक करतारू। जे जिव दीन्ह कीन्ह संसारू ॥[1]
प्रथमे प्रणाम करि एक करतार। जेइ प्रभु जीवदाने स्थापिल संसार ॥[2]
प्रकट गुप्त सो सर्वबियापी। धर्मी चिन्ह न चिन्है पापी ॥[3]
अप्रकट गुप्त आछे सबाकारे व्यापि। धार्मिक चिनपे
तारे नाचिनपे पापी ॥[4]

अराकान-दरबार और साहित्य-समादर

अराकान राज-सभा का साहित्य-समादर उल्लेखनीय है। वहाँ जिन कवियों को प्रतिष्ठा मिली, उनमें से लगभग सभी मुसलमान थे। वहीं के एक कर्मचारी अशरफ खाँ के कहने पर दौलत काजी ने 'मैनामती' काव्य आरम्भ किया था, जिसे खत्म करने के पहले ही वे चल बसे। कहते हैं, कवि अलाउल ने ही उसे पूरा किया। 'अलिफलैला' के ढंग की कहानियों का बंगला में सबसे पहले वहीं के दरबार की मार्फत प्रवेश हुआ था। सुलेमान नाम के किसी व्यक्ति ने वैसी कहानियों की एक पुस्तक लिखी थी। परागल-खाँ के बसाये परागलपुर में एक कवि सैयद सुलतान नाम के थे। उनके तीन ग्रन्थ पाये जाते हैं—'ज्ञान प्रदीप', 'नबी वंश' और 'शबे मीराज़'। 'शबे मीराज' का दूसरा नाम 'उफात रसूल' है, जिसमें मुहम्मद साहब का चरित है।

नबियों में हिन्दू-अवतार

नबी वंश एक भारी-भरकम काव्य है। उसमें बारह नबियों की कथा लिखी है और मज़ा यह है कि नबियों में ब्रह्मा, विष्णु, शिव और कृष्ण भी शामिल हैं ?

यह अपने ढंग की एक ही अजीब बात नहीं है, ऐसी मिसाल तो बहुतेरी किताबों में मिलती हैं। असल में हिन्दू-मुसलमान अरसे तक पास-पास

१. जायसी।
२. अलाउल।
३. जायसी।
४. अलाउल।

रहे। हिन्दुओं के रहन-सहन और संस्कृति की उन पर गहरी छाप पड़ती रही। इस तरह न केवल बंगला उनकी मातृभाषा बनी, बल्कि हिन्दुओं के देवी-देवता, पूजा-त्योहार, धर्म-विश्वास भी बहुत अंशों में उनके अपने-से हो बैठे। एक युग था कि बंगाल में जहाँ देखिये, मनसा-मंगल-गान लिखे और गाये जाते थे, गाये तो खैर अब भी जाते हैं। मनसा-मंगल-गानों में राजशाही के मुसलमानों का कभी एकाधिकार-सा रहा। और बात दूर रहे, हिन्दू-मुस्लिम-मिश्रित देवता की भी कल्पना की गई।

सत्यपीर की कल्पना

ऐसे एक देवता बन गए सत्यपीर—सत्य और पीर की कलम लग गई। उन पर लिखे गए गीतों की भरमार है, जिन्हें गा-गाकर फ़कीर आज भी अपनी रोटी चलाते हैं। उधर के गाँवों में सत्यपीर के गायक फ़कीर जहाँ-तहाँ, जब-तब देखे जा सकते हैं। सत्यपीर की गुण-गाथा भी खूब है। एक बानगी :

सत्यपीरेर नाम निये जे पथे चले जाय।
महिषे ना मारे ताके बाघे नाहिं खाय॥

मतलब यह हुआ कि जो सत्यपीर का नाम लेकर राह में निकलते हैं, उन्हें भैंसे नहीं मारते, उनको बाघ नहीं खाता।

मुसलमान और हिन्दू-देवी-देवता

मायानी गाजी नाम के एक कवि ने इन सत्यपीर की पूरी पांचाली ही लिखी है। शिव, सरस्वती, चण्डी आदि की वन्दना भी बहुतेरे मुसलमान-कवियों ने लिखी है। एक पोथी है—'इमामयात्रार पुन्थि'। एक मुस्लिम कवि की रचना है, जिसकी सरस्वती-स्तुति देखिये :

आय माँ सरस्वति तुमि आमार माँ।

कवि करीम उल्ला की एक रचना है, 'यामिनी वहाल'। पुस्तक की नायिका एक मुसलमान स्त्री है और वह शिव की उपासिका है।

मिर्जा हुसैन अली

मिर्जा हुसैन अली नाम के भी एक कवि हो गए हैं, जो एक जमींदार थे और बड़ी धूम-धाम से काली की पूजा किया करते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने दससाला बन्दोबस्ती का जो नियम चलाया था, उसके कागजात में उनका नाम मिला है। उनकी एक मजेदार कविता है :

जा रे शमन ए बार फिरि एसो ना मोर आँगिना ते !
दोहाइ लागे त्रिपुरारि, यदि कर जोर जबरि
सामने आछे जज काछारि।
आमि तोमार कि धार धारि
श्यामा मायेर ख़ास तालुके बसत करि।
बले मिर्जा हुसेन आलि, जा करे माँ जय कालि
पुण्येर घरे शून्य दिये पाप निये जाओ निलाम करि।

अर्थात् ऐ शमन, लौट जाओ, मेरे आँगन में मत आओ। त्रिपुरारि की दुहाई है, अगर तुमने कहीं जोर-जबरदस्ती की तो, वह रही सामने जजी कचहरी। भला मैं तुम्हारा कौन-सा कर्ज खाये बैठा हूँ, श्यामा माँ की खास जिमींदारी का मैं बाशिन्दा हूँ। मिर्जा अली हुसैन कहते हैं, जो करें माँ काली, पुण्य के घर शून्य देकर पाप को नीलाम करके ले जाओ।

वैष्णव-काव्य और मुस्लिम कवि

वैष्णव-साहित्य की जो प्रबल बाढ़ आई, उसने मुस्लिम-हृदयों में भी खूब हलकोरे उठाये। हिन्दी में रसखान 'ब्रज-गोकुल गाँव के ग्वारन' जा बसने को बेताब हो उठे थे, आलम शेख को हसरत रह गई कि **'जा रसना सों करी बहु बातन, ताकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं'**, या **'हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं'** की जो कामना तड़प उठी थी, कृष्ण-लीला के उमगते उफ़ान में बंगाली मुसलमान-कवि भी एड़ी से चोटी तक सराबोर हो गए। कृष्ण-भक्ति के काव्य अनेक ने लिखे, जिनमें से प्रमुख हैं, नसीर मुहम्मद

सैयद मुर्तजा, अबीरदा, करम अली। करम अली की कविता का एक नमूना :

कान्या कान्या बोलितेछे श्रीमति राइ।
आन्या दे आन्या दे मोर नागर कानाइ॥
शुन् आप वृन्दा दूती बोलि तोमारे।
मथुराय गेलो होरि आन्या दे मोरे॥

यानी रो-रोकर राधिका कहती है कि मेरे नागर कन्हाई को लिवा ला। अरी ओ वृन्दा दूती, सुन जा, तुझे बताऊँ, मेरे कन्हाई मथुरा गये हैं, उन्हें मेरे पास बुला दे।

और भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

: ४ :

चैतन्य-पूर्व बंगला-साहित्य

(प्रारम्भिक विकास-काल)

राज्य और धर्म

हिन्दी के समान बंगला-साहित्य की भी शुरुआत कविता से ही हुई और वह क्रम उसके आदिकाल से अठारहवीं सदी तक एक-सा चलता रहा। भाषा तथा साहित्य की पुष्टि के दो बड़े सहायक होते हैं, राज्य और धर्म। बंगला के पुष्टि-साधन में इन दोनों ही सहायकों ने अपना-अपना हिस्सा बटाया। रचनाओं के लिए बाहरी प्रेरणा तो राज्य से मिलती रही और आंतरिक धर्म से। धर्म की इस प्रबल अनुप्रेरणा की गहरी छाप सदियों की साहित्य-साधना पर हम स्पष्ट देख सकते हैं, बल्कि राजनीतिक उथल-पुथल के वैसे खास चिह्न ढूँढे कम मिलते हैं।

तत्कालीन साहित्य और लोक-धर्म

साहित्य में समाज की आत्मा धड़कती है, और इस सूत्र से हम सहज ही जान सकते हैं कि धर्मप्राणता बड़ी प्रबल रही। जिन हड्डी-पसलियों का शरीर बंगला का बना वह धर्म-भावना थी, 'शिवायन', 'मनसा-मंगल', 'चंडी मंगल', 'पदावली' आदि उसीकी विभिन्न अभिव्यक्ति हैं, जो बंगला की साहित्य-साधना का सर्वस्व रहा है। धर्म का शास्त्रीय स्वरूप जो रहा सो रहा, लौकिक धर्म का प्रभाव ही प्रबल रहा। यह कहें तो अत्युक्ति न होगी

कि सहज लोक-धर्म के विविध स्वरूप ही युगों तक साहित्य के प्रधान अव-लम्ब रहे।

शैव धर्म

हिन्दू धर्म ने दुबारा जब प्रबलता से सिर उठाया, तो शैव धर्म ही पहले आगे आया, इसके ऐतिहासिक सबूत मिलते हैं। किन्तु वह भाव-धारा जन-मन को वैसा नहीं झकझोर सकी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि शिव-सम्बन्धी बृहत् रचनाओं का पता नहीं चलता। एक बड़ा पुराना प्रवाद चला आता है, **'धान भानते शिवेर गीत'**। धान कूटने में शिव का गीत चलता था। 'मनसा मंगल', 'चंडी मंगल', यहाँ तक कि 'गोरक्ष-विजय' में भी मुखबन्ध में शिव की स्तुति पाई गई है।

प्राप्त साहित्य में शिव का स्वरूप

'शून्य पुराण' में शिव पर एक परिच्छेद है। बाद के तो कई ग्रन्थों में—'मृगलब्ध पुन्थि', रामेश्वर-कृत 'शिवायन'—में शिव-महिमा वर्णित है। फुटकल रचनाओं को छोड़कर इस पर मूल्य-महत्त्व देने वाली कोई रचना नहीं मिलती। जो छुट-पुट रचनाएँ हैं, उनमें शिव का स्वरूप सुनने ही लायक है। भंग-धतूरा खाने वाले शिव किसानों को खेती के उपदेश देते हैं कि जोंक और मच्छर कैसे भगाये जाते हैं! गार्हस्थिक उपयोगितावाद की एक झलक मिलती है। जैसे 'गोरक्ष-विजय' के उल्लेख की कुछ पंक्तियाँ देखिये :

भाँग खाइबे धुतरा खाइबे खाइबे भाँगेर गुंड़ा।
पिरथिमि मजले शिव ना हइबे बूड़ा॥
श्मशाने मशाने थाकबे माथवे भस्म छालि।
सगले डाकबे तबे पागला शिव बुलि।
भूत पेरेतेर लगे एकत्रे कोरबे वास।
अध्येर सागरे पइड़ा थाकबे बारो मास।

'शून्य पुराण' में शिव

रमाइ पण्डित के 'शून्य पुराण' में, जो काफ़ी पुराना है, खेती-बारी की बातें आई हैं कि शिव के निर्देशन में किस मुस्तैदी से खेती-बारी हो रही है। वामाचारियों के तन्त्रों में तो ऐसा आया है कि शिव-गौरी को वशीकरण की बातें बताते हैं। बंगला की पंजिकाओं में आज भी ऐसी तस्वीर छपती है कि शिव पार्वती को गृहस्थी के उपदेश देते हैं। गृहस्थों की वृत्ति के अनुरूप ही उनका स्वरूप चित्रित हुआ है।

'मनसा मंगल'

सबसे अधिक प्रभाव मनसा और मंगल चंडी का ही मालूम होता है, जिन पर बहुत ज़्यादा काव्य लिखे गए। मनसा साँपों की देवी है और उस पर ज़्यादा नहीं तो कम-से-कम ६२ विभिन्न काव्य मिलते हैं। पन्द्रहवीं सदी तक काणा हरिदत्त, नारायणदेव और विजय गुप्त 'मनसा-मंगल' के अच्छे कवि हुए।

'मनसा मंगल' की कहानी

'मनसा' में शिव की कथा कही गई है, पर जो कहानी बंगाल की पांचालियों में है, पुराणों से उसका कोई लगाव नहीं—वह बंगाल की निजी कथा है। कहते हैं, मनसा पैदा होते ही पूर्ण वयस्क हो उठी और साँपों की स्वामिनी बनी। जरत्कारु मुनि से मनसा के एक लड़का हुआ—आस्तीक। जनमेजय के सर्प यज्ञ से आस्तीक ने साँपों की रक्षा की। मनसा की इससे प्रतिपत्ति बढ़ी। मगर उसके मन में बदला चुकाने की एक आग जल रही थी। शिव की स्त्री चंडी ने वैर से मनसा की एक आँख फोड़ दी थी। इसका बदला लिये बिना चैन कहाँ। सो मनसा ने यह निश्चय कर लिया, वह चंडी के उपासकों से पूजा लेकर चंडी को नीचा दिखायगी। मनसूबा गँठा और उसकी कोशिश चलने लगी। बनियों में चाँद सौदागर बड़ा नामी-गिरामी था और वह चंडी का भक्त था। मनसा ने फरेब से चाँद की पत्नी सनका से पूजा ली। चाँद से यह न सहा गया। उसने एक

दिन मनसा की सारी पूजा-सामग्री को लात से ठोकर मारी। मनसा ने वैर वसूलना चाहा। चाँद के छै पुत्र वाणिज्य से लौट रहे थे, वे पोत सहित डूब मरे। चाँद का छोटा लड़का लखिन्दर बच रहा, जिसकी शादी उसने बड़ी धूम-धाम से कर दी। उसके लिए छेदहीन लोहे का घर बनाया। फिर भी मनसा के चलते लखिन्दर साँप के काटने से मर गया। बिहुला एक बेड़े पर पति की लाश रखकर नदी में बह चली। गंगा-संगम पर एक धोबिन से उसका परिचय हुआ, वह देवताओं के कपड़े धोती थी। बिहुला उसे राजी करके स्वर्ग गई। नाच-गाकर देवताओं को रिझाया। देवताओं ने मनसा को मनाया। विपुला ने वादा किया कि अपने ससुर से वह मनसा की पूजा करायगी। उसे पति मिला। चाँद ने पूजा की। उसके छहों बेटे उसे वापस मिले। खुशी मनी।

मनसा-मंगल-काव्य-परम्परा

आज तो लोग इसकी ऐतिहासिकता की भी हामी भरते हैं और चाँद के घर-द्वार की छान-बीन और पता-ठिकाना बताते हैं। लेकिन हकीकत में यह एक कपोल-कल्पना है, शुरू से अखीर तक मनगढ़ंत। किन्तु इसी कथा पर पिछले कुछ सौ वर्षों में बंगाल में विशाल साहित्य तैयार हो गया है। मनसा की पूजा होती है। सावन में बंगाल में मनसा की मासान-यात्रा होती है। महीने-भर उसके गीत अभी भी गाये जाते हैं। मनसा के लोक-प्रचलित गीत तो शायद और पहले से प्रचलित रहे हों, पर जो लिखित पहला 'मनसा-मंगल' मिला है, उसके कवि विजय गुप्त हैं, जिन्होंने पुस्तक की रचना सन् १४९५ में की। पुस्तक में हुसैन शाह सुलतान का जिक्र है। उसी पुस्तक से यह भी पता चलता है कि उनसे पहले काणा हरिदत्त ने 'मनसा-मंगल' की रचना की थी। पर उसका एक ही पद मुश्किल से मिल सका है। कवि नारायणदेव विजय गुप्त के ही समसामयिक थे। जिन्होंने 'पद्म पुराण' की रचना की। विजय गुप्त की रचना के साल ही भर बाद विप्रदास ने अपना 'मनसा-मंगल' लिखा।

रचनाओं का साहित्यिक मूल्य

जहाँ तक साहित्यिक मूल्य की बात है, वह इन रचनाओं में मामूली है, किन्तु तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक तथ्यों से रचनाएँ पूर्ण हैं। काव्य में कथानक करुण-प्रधान है, पर विजय गुप्त की रसिकता जगह-जगह फूट उठी है, जो कि उसमें ग्राम्य-दोष है। जैसे, पद्मा के विवाह में शिव-दुर्गा की आपसी बात वाला स्थल। शिव कहते हैं, कन्या-दान के लिए चुन-बीनकर अद्भुत दामाद ले आया हूँ, जरा घर सजा लो। दुर्गा ने कहा, भले आदमी, कहते लाज भी नहीं आती, घर में धरा क्या है कि साज-सज्जा हो। मंगल-गान गाने अभी लोग-बाग आयँगे, वे पान माँगेंगे, तेल-सिन्दूर माँगेंगे। शिव ने हँसकर कहा, उसकी दवा मैं जानता हूँ, आँगन में नंगा खड़ा हो जाऊँगा, लाज-भय से सब भाग-खड़े होंगे :

> **जामाइ एनेछि पुण्यवान कन्या करिब दान**
> **विवाहेर सज्जा करो घरे।**
> **हासि बले चंडि आइ तोमार मुखे लज्जा नाइ**
> **किबा सज्जा आछे तोमार घरे।**
> **एयो एसे मंगल गाइते ताराचाइबे पान खाइते**
> **आर चाइबे तैल सिन्दूरेते।**
> **हासि बले शूलपाणि एयो भंडाइते जानि**
> **मध्ये दाँड़ाब नेंगटा होये।**
> **देखिया आमार ठान एयोर उड़िबे प्राण**
> **लाजे सबे जाबे पलाइये।**

मंगल-काव्य की परम्परा

चैतन्य-पूर्व-काल में इस मंगल-काव्य की जो परम्परा शुरू हुई, वह सदियों चलती रही। समय-समय पर उसमें नई कड़ी भी जुड़ती गई, जिसमें छोटी-छोटी व्रत-कथाओं ने धीरे-धीरे काव्य का रूप ले लिया। शीतला-मंगल, षष्ठीमंगल, सूर्य की पांचाली, विद्यासुन्दर और दक्षिणराय की कथाओं पर

काव्य रचे गए। दक्षिणराय व्याघ्र देवता हैं—**नमामि दक्खिनराय सुन्दर-वनेवास**। साहित्य का मूल्य इनका चाहे वैसा न हो, पर साहित्य के लिए ये बेशक बड़े मूल्यवान रहे।

चैतन्य-पूर्व साहित्य

चैतन्य-पूर्व-काल में हमें कुछ महाकवि और महाकाव्य मिलते हैं, जिनका स्थान बंगला में आज भी वैसा ही बना हुआ है। 'रामायण', 'भागवत' और 'महाभारत' का अनुवाद यहीं से शुरू हुआ। जिस पदावली-साहित्य ने बंगला और बंगाल के लोक-जीवन को सबसे ज़्यादा उद्बुद्ध किया, उसका श्रीगणेश इसी युग में हुआ। पदावली-साहित्य-गगन के चाँद और सूरज, विद्यापति और चंडीदास की प्रतिभा का स्वर्णिम आलोक इन्हीं दिनों में फूटा, जिनकी अंतःप्रेरणा ही साहित्य के लिए प्राण बनी और बंगला में एक नये युग के प्रतिष्ठाता चैतन्य के लिए जिसने जमीन तैयार की।

कृत्तिवासी रामायण

हिन्दी में जो स्थान तुलसीदास की 'रामायण' का है, बंगला में वही स्थान 'कृत्तिवासी रामायण' का। पाँच-छै सौ साल पहले वह रामायण रची गई—पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में। किन्तु आज तक झोंपड़े से महल तक उसका वैसा ही आदर बना हुआ है। बाद की सदियों में रामायण-रचना की चेष्टाएँ तो कई हुईं, पर 'कृत्तिवासी रामायण' की लोकप्रियता ने उसे एक जातीय काव्य बना दिया है और एक युग से वह समग्र बंगाल के लोक-समाज को नैतिक शक्ति और आध्यात्मिक तृप्ति देता आ रहा है। इसके दो कारण हैं, वाल्मीकि का हू-बहू अनुवाद नहीं होते हुए भी 'रामायण' की कथा इसमें सुरक्षित है और उसकी भाषा पाण्डित्य से बोझिल न होकर अनुभूतियों के अनुकूल सहज, सरल अनवद्य है। तुलसीदास ने जिस प्रकार राम को आदर्श पुरुषोत्तम बनाया है, कृत्तिवास ने भी उन्हें मानवी गुणों से विभूषित किया है, केवल असामान्य बल-पौरुष और कृतित्व से उनमें ईश्वरत्व का आभास मिलता है।

कृत्तिवास और उनका काल

कृत्तिवास ने अपनी कृति में कहीं तत्कालीन राजा का नाम नहीं लिया है, पर उनके आत्म-विवरण से यह ज्ञात होता है कि वे या तो राजा कंस या गणेश के राजत्व-काल में हुए थे। जिस राज-सभा का उन्होंने वर्णन दिया है, वह सभा हिन्दू-राजा की ही हो सकती है। कृत्तिवास के पिता का नाम वनमाली और माता का मालिनी था। उन्होंने नाना शास्त्रों की शिक्षा पाई थी और गौड़ेश्वर को अपने पाण्डित्य के प्रभाव से चमत्कृत कर दिया था। सात श्लोकों की तत्काल रचना करके कवि ने सभा में राजा का अभिवादन किया था। राजा ने प्रसन्न होकर कवि को पुरस्कार देने की इच्छा जाहिर की थी—किन्तु कवि ने कहा, मुझे धन-संपद् की तनिक भी इच्छा नहीं है। मैं सिर्फ अपनी रचना की श्रेष्ठता को ही सुनना चाहता हूँ।

कृत्तिवास की भाषा

'कृत्तिवासी रामायण' की रचना जिस सदी में हुई थी, उसके अनुसार भाषा में जो पुरानापन होना चाहिए था, वह नहीं है। हो सकता है, अपनी जरूरत से ज़्यादा लोकप्रियता के कारण धीरे-धीरे लोक-मुख में उसकी भाषा बदलती आई हो। 'रामायण' के सिवाय, 'योग्यादार बंदना', 'शिव-रामेर युग', 'रुक्मांगद राजार एकदशी' आदि अन्य कई पुस्तकों में भी कृत्तिवास की भणिता पाई गई है।

मालाधर वसु और 'कृष्ण-विजय'

'श्री कृष्ण विजय' नाम से भागवत का अनुवाद कवि मालाधर वसु ने किया था। कहीं-कहीं यह ग्रन्थ 'गोविन्द-विजय' के नाम से भी पाया जाता है। पुराने समय में मृत्यु या यात्रा से सम्बन्धित रचनाओं को विजय नाम से युक्त कर दिया करते थे। भगवती की कैलाश-यात्रा का दिन 'विजया' है। 'श्री कृष्ण-विजय' के अन्तिम अध्याय में कृष्ण के देह-त्याग का वर्णन है, हो सकता है, विजय नाम इसीसे दिया गया हो। कवि संस्कृत के

मर्मज्ञ थे, फिर भी उन्होंने भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं किया है। उसकी मर्मवाणी भी बहुत-कुछ इसमें बदल गई है। भागवत की गोपिकाएँ कृष्ण को भक्ति-भाजन समझती थीं, 'कृष्ण-विजय' में प्रेमास्पद मानती हैं। काव्य सुन्दर बन पड़ा है। चैतन्य प्रभु को भी वह खूब भाया था।

मालाधर वसु का समय

मालाधर वर्द्धमान जिले के कुलीन ग्राम-निवासी थे। सुलतान से उन्हें 'गुणराज खान' की उपाधि मिली थी। इस खान उपाधि के बंगाली लोग आज भी बंगाल में पाये जाते हैं। सुलतान के आदेश से कवि ने सात वर्षों में भागवत का अनुवाद पूरा किया था—तेरह सौ पिच्चानवे में उसे शुरू किया, चौदह सौ दो शकाब्द में समाप्त किया। जैसा कि लिखा है :

तेर शो पचानइ शके ग्रन्थ आरम्भन।
चतुर्दश दुइ शके हैल समापन॥[1]

काशीरामदास और 'महाभारत'

रामायण-भागवत की तरह महाभारत-परम्परा की बुनियाद भी हुसैन शाह के समय ही पड़ी। यों बंगला में जो प्रसिद्धि और लोकप्रियता काशी-रामदास (सत्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में) के 'महाभारत' की है, वह किसी की नहीं। किन्तु जो पूर्णता उसमें आ सकी है, उसका श्रेय उन प्राथमिक चेष्टाओं को ही है।

रामायण-महाभारत की कथा-परम्परा

मूलतया हमारे यहाँ क्या रामायण और क्या महाभारत, किसी एक कवि की निजी सृष्टि नहीं है। लोक-परम्परा में चली आती हुई अनेक कथा-उपकथाओं की योजनाकारिणी कोई अद्भुत प्रतिभा कभी प्रकट हो गई—वही कभी वाल्मीकि और कभी व्यास में दिखाई दी। वाल्मीकि के पहले भी रामायण की कथा विभिन्न रूपों में देश में प्रचलित थी।

---

१. 'श्री कृष्णविजय'।

राम-कथा

ऐसा पता चलता है, तब उत्तर भारत में जो राम-कथा थी, उसमें रावण का कहीं नामो-निशान नहीं था और दक्षिण में रावण की ही गुण-गाथा गाई जाती थी। 'लंकावतार सूत्र' और 'जैन-रामायण' से इस बात पर रोशनी पड़ती है। एक में लिखा है कि रावण ने बुद्ध का शिष्यत्व ग्रहण किया था, दूसरे में उल्लेख है कि उन्होंने योग की अद्‌भुत साधना की और पंचभूत पर विजयी होकर इन्द्रियों को वशवर्त्ती कर लिया। इन कथाओं के ऐतिहासिक मूल्यांकन की यहाँ गुञ्जाइश नहीं, पर ऐसा लगता है, वाल्मीकि में ही वह युगान्तरकारी प्रतिभा प्रकट हुई, जिसने इन सारे विच्छिन्न सूत्रों की संगति और समन्वय से एक अनिन्द्य रस की सृष्टि की।

अन्यान्य महाभारतकार

बंगला में जो पहला 'महाभारत' मिलता है, वह कवीन्द्र परमेश्वर का है, जो 'परागली महाभारत' के नाम से मशहूर है। हुसैन शाह के सेनापति परागल खाँ ने उसे तैयार कराया था। 'परागली महाभारत' के सिवाय भी विजय पण्डित, नित्यानन्द घोष आदि के 'महाभारत' मिले हैं, जिनमें परस्पर इतना अधिक साम्य है कि सहज ही यह आशंका उठती है कि हो न हो, इन सारे ग्रन्थों का आधार कोई दूसरा एक ग्रन्थ है। कवीन्द्र परमेश्वर के 'महाभारत' में भी नसरत खाँ की प्रेरणा से रचे गए महाभारत की ओर इशारा है :

श्रीयुक्त नायक से जे नसरत खान।
रचाइल पांचाली जे गुणेर निदान॥

आदि महाभारतकार संजय कवि

इतिहासकारों ने इन सबके पहले के महाभारतकार का नाम दिया है संजय। यह संजय धृतराष्ट्र को युद्ध का आँखों-देखा वर्णन सुनाने वाले संजय न समझे जायँ, इसलिए संजय ने स्वयं अपने बारे में कहा है :

भारतेर पुण्य कथा नाना रसमय।
संजय कहिल कथा, रचिल संजय॥

यानी 'महाभारत' की पुण्य कथा अनन्त रसमयी है, जिसे संजय ने कहा और संजय ने लिखा। ऐसी भणिता बहुत बार आई है। संजय का पूरा काव्य तो कहीं नहीं मिला है, पर 'महाभारत' की बहुतेरी पुरानी पोथियों में उनकी रचना के थोड़े-बहुत अंश पाये जाते हैं। लोगों में एक प्रचलित बात यह भी पाई जाती है कि 'महाभारत' की गहराई तक जाना कठिन है, सो संजय ने लोक-हित के लिए बंगला में उसकी रचना की : **अति अन्धकार जे महाभारत सागर। पांचाली संजयताक करिल उज्ज्वल।** संजय की रचना का आधार, सम्भवतः मागध भाटों के वे उपाख्यान-गीत हों, जो वे राज-दरबारों में गाते फिरते थे। जो हो, संजय की भाषा ग्राम्य है। परिचय के सिवा उसमें से प्रांजल रस की प्राप्ति नहीं होती।

श्रीकरनन्दी का व्यंग्य

कवीन्द्र परमेश्वर-कृत 'परागली महाभारत' में चटगाँव की पुरानी भाषा की बहुलता है, जो मुश्किल से समझ में आती है। परागल खाँ के बेटे छोटे खाँ ने कवि श्रीकरनन्दी से अश्वमेध पर्व का अनुवाद कराया था। उसकी भाषा भी वैसी ही कठिन है, पर कहीं-कहीं मजेदार व्यंग्य से कवि ने उसे रोचक भी बनाया है। उसमें से कृष्ण और भीम के संवाद की कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं। कृष्ण कहते हैं, 'भीम बेहद खाता है, इसलिए उसका आकार-प्रकार स्थूल है और वैसी ही है उसकी सहचरी हिडिंबा राक्षसी।' बिगड़कर भीम ने कहा, 'खुद को न देखकर कृष्ण मेरी खिल्ली उड़ाते हैं। मेरे पेट में भला कितना अन्न-व्यंजन होगा, तुम्हारे पेट में तो त्रिभुवन अँट गया है। तुम्हारे घर जाम्बुवती भल्लुक कुमारी बैठी हैं, तुम बेचारी युवती हिडिंबा की लिहड़ी लेते हो' :

कृष्ण

बहु भक्ख होये भीम स्थूल कलेवर।
हिडिम्बा राक्षसी भार्या जाहार सहचर।

भीम

कृष्णेर वचने भीम रुषिया वलिल ।
मोके मन्द बल कृष्ण निज ना देखिल ।
तोम्मार उदरे जतो बसे त्रिभुवन ।
आम्मार उदरे कतो अन्न व्यञ्जन ॥
भल्लुक कुमारी तोमार घरे जाम्बुवती ।
ताहा हैते अधिक बलो हिडिम्बा युवती ॥

विद्यापति और उनका प्रभाव

इस काल की विशिष्ट और साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण घटना विद्यापति और चण्डीदास का आविर्भाव है। हिन्दी-पाठकों के लिए विद्यापति की विशेष चर्चा तो अनावश्यक ही होगी। कुछ ही पहले तक विद्यापति को लोग बंगाली कवि मानते रहे थे। वह भ्रम अब दूर जरूर हो गया है, पर जो छाप बंगला पर विद्यापति की रह गई है, वह तो कभी नहीं छूटने की। गीति-परम्परा की जो अबाध धारा आज भी बंगला-साहित्य में प्रवाहित है, उस उत्स की गति के दो ही मूल केन्द्र रहे—जयदेव और विद्यापति। बंगला का सम्पूर्ण पदावली-साहित्य जिस 'व्रजबुलि' में लिखा गया, उसकी गीतात्मकता और भाव-रूप में जो प्रभाव ध्वनित है, वह विद्यापति की देन है, बंगला और मैथिली दोनों की जन्मदात्री गौड़ी प्राकृत है और पिछले दिनों दोनों भू-भागों का सम्बन्ध भी बड़ा घनिष्ठ रहा है। इस बात में दोनों की साहित्य-साधना में समता भी है कि कृष्ण-लीला-विषयक रचनाओं से ही उनका श्रीगणेश हुआ। राजनीतिक कारणों से तेरहवीं-चौदहवीं सदी में बंगला का साहित्य-स्रोत छिन्न हो गया, किन्तु मिथिला में वह क्रम नहीं टूटा और उन सदियों में भी वहाँ साहित्य-चर्चा चलती रही। लिहाजा जब कि पन्द्रहवीं सदी से पहले बंगला में कृष्ण-लीला के पद नहीं पाये जाते, मिथिला में मिलते हैं। विद्यापति चौदहवीं सदी के अन्त की ओर हुए। उन्हींके प्रभाव से परवर्ती पदावली-साहित्य का प्रचार-प्रसार बंगाल,

आसाम और उड़ीसा में हुआ। बंगाली पदकर्ताओं ने उन्हींके अनुकरण पर 'व्रजबुलि' में राधा-कृष्ण के प्रेम-विषयक गीत लिखे। हुसैनशाह के दरबार में एक कर्मचारी थे कवि शेखरराय, वे तो दूसरे विद्यापति ही कहे जाते थे और उसी भणिता से उन्होंने अनेक पद लिखे। अतएव जिन पदों में हुसैनशाह, नसरत खान आदि का उल्लेख है, बहुत सम्भव है, या तो वे बाद के पदकार हैं या उनमें वैसी भणिता जोड़ी गई है।

व्रजबोली

व्रजबोली के सम्बन्ध में बहुतों का ऐसा खयाल था कि यह व्रजभूमि की बोली है और द्वापर में राधा-कृष्ण इसी भाषा को बोलते थे। किन्तु सोलहवीं से अठारहवीं सदी तक और पन्द्रहवीं में चण्डीदास ने जिस व्रजबोली को पदों में अपनाया, वह सर्वथा अलग चीज़ है, वह बंगला और मैथिली की अपने ढंग की खिचड़ी है। बंगाली कवि चण्डीदास की रचना में धरम, करम, परताप, सिनान, सरबस, परसंग, परकार आदि अनगिन ऐसे शब्दों का व्यवहार हुआ है, जो उसी पद्धति पर गढ़े गए हैं। यह प्रभाव पदावली-साहित्य पर ही नहीं है, अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। जैसे 'कृत्तिवास' में बहिन, शुतिल (सोने के अर्थ में, जो कि मिथिला में आज भी प्रचलित है)। 'अनन्त रामायण' में—न जीवों; पिन्हई; किसक (क्यों); मैल आदि। संजय, कवीन्द्र परमेश्वर और श्रीकरनन्दी के 'महाभारत' में—काहाँ (कहाँ), बोलाव ; चिन्ह (पहचाना), निद (नींद), एहि; बाव (हवा) आदि। कवि रामेश्वर की 'सत्यपीर' की कुछ पंक्तियाँ देखिये :

> **विश्वनाथ विश्वासे बुझाए बते बाछा ।**
> **दुनिया में एसामि आदमि रहे साँचा ॥**
> **भाला बाबा काहे तेरा मृत्यु-काल काछे ।**
> **रातदिन ऐसा तेसा सुख-दुःख होये ॥**
> **जाना गेलो बात बाबा जाना गेलो बात ।**
> **कापड़ा तो लेओ आओ मेरा साथ ॥**

जाओत सत्यपीर मेरा जाओत सत्यपीर ।
तेरा दुःख दूर करता हाम फकिर ॥

हिन्दी का प्रभाव

पारस्परिक सहयोग बढ़ जाने से आधुनिक हिन्दी का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव आज के साहित्य में है, किन्तु उस विषयान्तर में जाना नहीं है। अनुनासिक शब्दों का पिछला प्रभाव अभी तक भी रह गया है और यह 'ञ' और 'ङ' का प्रभाव निर्विवाद हिन्दी का है। मिसाल के तौर पर पुँथि (पुस्तक), आँखि (अक्षि), काँख (कुक्षि), कुँड़े (कुटीर) आदि।

विद्यापति के राधा-कृष्ण

आज विद्यापति के पदों के बारे में काम-गन्ध की चर्चा होने लगी है, पर वह भी दिन था जब अभिनव प्रेम-मार्ग में लोगों को दीक्षित करने वाले महाप्रभु चैतन्य उन पदों को सुनकर आत्म-विभोर हो जाते थे। 'चैतन्य चरितामृत' में लिखा है :

विद्यापति चंडीदास श्रीगीत गोबिन्द ।
एइ तीन गीते कराय प्रभुर आनन्द ॥

जार्ज ग्रियर्सन साहब ने राधा-कृष्ण को आत्मा-परमात्मा का रूपक कह-कर पदों की आध्यात्मिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

वैष्णव-साहित्य का प्राण-धर्म

संक्षेप में यहाँ वैष्णव-साहित्य के प्राण-धर्म की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। वैष्णव-साहित्य का मर्म प्रेम-धर्म है। पदों में उसकी प्रतिष्ठा राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से की गई है, किन्तु उन लीलाओं में भागवत-वर्णित रूप, चरित्र और विषय से थोड़ी-सी अभिनवता है। राधा-कृष्ण के रूप भी समय से रूपान्तरित होते आए हैं।

राधा-कृष्ण-चरित्र का क्रमिक विकास

बारहवीं सदी से साहित्य का भक्ति-प्रवाह विशेषतया राधा-कृष्ण के

दो कूलों में बँधकर बहने लगा है। आरम्भिक अवस्था में कृष्ण परब्रह्म थे, उनके उस ऐश्वर्य-रूप से आगे राधा की आनन्द मूर्ति प्रकट हो आई। उपनिषद् आदि का 'राधस्' आज की राधिका का अर्थ-बोधक नहीं था। 'पद्म-पुराण', 'स्कंद पुराण' से 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' तक आते-आते राधिका कृष्ण की परकीया नायिका के रूप में बदल गई। आभीरों के बीच राधा थी, पहली सदी की हाल की 'गाथा सप्तशती' में उसका उल्लेख है। ढूँढने से इसकी काफ़ी लम्बी ऐतिहासिक कड़ी मिलती है, पर वह विस्तार अनावश्यक है। पहले-पहल निम्बार्क ने राधा को दार्शनिक रूप दिया, किन्तु जयदेव के बाद ही राधा की प्रधानता व्यापक होती है और चैतन्य महाप्रभु के बाद तो उस पर आध्यात्मिकता का गहरा रंग चढ़ जाता है।

प्रेम-धर्म के चार भाव

ईश्वर की पुरानी रूप-कल्पना की भी दो दिशाएँ रही हैं—उनकी शक्ति और ऐश्वर्य की दिशा, उनके प्रेम और रूप की दिशा। संक्षेप में हम ऐश्वर्य और माधुर्य कह सकते हैं। उनकी उपासना तो दोनों ही रूपों में की जा सकती है। थोड़ा-सा फ़र्क़ आता है। ऐश्वर्य रूप में भगवान् देवता रह जाते हैं। भक्त से उनकी एक दूरी रह जाती है। माधुर्य उनका मानवीकरण है—यहाँ वे प्रेम की डोर में बँधे आते हैं—कच्चे धागे में। इसीलिए भगवान् के ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य आदि अनेक रूपों में वैष्णवों ने उनके मधुर रूप को ही अपनाया। मधुर की उपासना में भक्तों के मोटा-मोटी चार भाव होते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार। 'चैतन्य चरितामृत' में लिखा है :

दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार—चारि रस।
चरि भावेर भक्त जत कृष्ण तार वश॥

प्रेम की उत्पत्ति-कहानी

इन चारों की माला में भी प्रेम ही मनका है। इस प्रेम (पीरीति) की उत्पत्ति की एक कहानी दीन चंडीदास ने अपनी पदावली के दूसरे खंड में दी है। गो-लोक के कल्पवृक्ष में प्रेम का एक सुन्दर फल लगा। देवताओं ने

शुक पक्षी को भेजा कि वह फल तोड़ लाए। शुक अपनी चोंच में उसे लेकर समन्दर पर से उड़ता हुआ लौट रहा था। पका फल था, फट गया। उसके तीन टुकड़े हो गए। एक 'सुख सागर' में, एक 'प्रेम सागर' में और एक 'रस सागर' में गिर गया। लाचार देवताओं को तीनों सागरों को मथकर उन टुकड़ों को निकालना पड़ा—पी री त। देवताओं ने वह फल विष्णु को दिया, वे उसे खा गए और बोले, इस फल के स्वाद का संसार में प्रचार करने के लिए मैं वृन्दावन में अवतार लूँगा। तभी तुम लोग भी वहाँ इसका स्वाद पा सकोगे। पदावलियों में राधा-कृष्ण की प्रेम-साधना के जो रूप हैं, उन्हें मोटा-मोटी चार भागों में बाँटा जा सकता है, पूर्वराग, प्रथम मिलन, विरह और सम्मिलन।

विभिन्न चंडीदास

पदावली-कर्त्ताओं में सबसे ज्यादा प्रसिद्ध और हिन्दी-संसार में परिचित चंडीदास हैं। छाया-चित्रों ने भी चंडीदास और उसकी रामी की अपनी-जैसी धारणा लोगों को दी है। किन्तु उस कथानक की ऐतिहासिकता निर्विवाद नहीं है। चंडीदास पन्द्रहवीं सदी के अन्त के कवि थे, पर उनकी भणिता के पद अठारहवीं सदी के प्रारम्भ से प्रचलित हैं। जितने पद चंडीदास के नाम से हैं, उनमें प्रतिभागत फ़र्क भी स्पष्ट झलकता है।

दीन चंडीदास

अब लगभग यह बात मानी जाने लगी है कि वास्तव में चंडीदास दो थे—चैतन्य से पूर्व जो चंडीदास थे, वे थे बड़ू चंडीदास और उनके बाद जो हुए, सो हैं दीन चंडीदास। जिन बहुत ही सुललित पदों को हम मूल चंडीदास के जानते रहे हैं, दुर्भाग्य से वे दीन चंडीदास के हैं। जैसे :

पीरिति बोलिया ए तिन आखर
भुवने आनिल के।
अमृत बोलिया गरल भखिनु
विषेते जारिल दे।

अथवा

सोइ, के बले पीरिति भालो ।
हासिते हासिते पीरिति कोरिनु
काँदिते जनम गेलो ।

यानी, सखि, कौन कहता है कि प्रीत अच्छी चीज़ है । हँसते-हँसते तो प्रेम किया और रोते-रोते जनम बीता ।

कृष्ण-कीर्त्तन की प्राचीन प्रतिलिपि

'बंगला भाषा ओ साहित्य' के लेखक का कहना है, दीन लिखने का एक साधारण शिष्टाचार है, इसलिए केवल उस भणिता से ही दूसरे एक चंडीदास को खड़ा करना ठीक नहीं । लेकिन केवल भणिता क्यों, यह बिलगाव काव्य से भी देखा जा सकता है । बड़ू चंडीदास के 'श्रीकृष्ण-कीर्त्तन' की एक प्राचीन प्रतिलिपि पाई गई है । उसकी भाषा ऐसी प्राचीन-सी है कि वह लगभग 'बौद्ध गान ओ दोहा'-जैसी लगती है । दीन चंडीदास की भाषा बड़ी प्रांजल और सादी है । चैतन्य-परवर्त्ती राधा के रूप में भी बहुत परिमार्जन हुआ है ।

दोनों चंडीदास की राधा

'कृष्ण-कीर्त्तन' की राधा एक हिन्दू-परिवार की नारी-जैसी लगती है, जब कि दीन चंडीदास की राधा एक भक्त-हृदया की तस्वीर । दो स्थल तुलना के लिए दिये जाते हैं । दान-खण्ड में ऐसा है कि राधा दही बेचने को जा रही है । बाट का महसूल अदा करते वक्त रूप-मोहित कृष्ण उसका आलिंगन कर लेते हैं, बड़ू चंडीदास की राधा जैसे गड़ गई । धरती फटे और वह उसमें समा जाय, ऐसी अवस्था । इस अपमान से तो उसे जहर पी जाने की इच्छा हो आई :

पाखि जाति न हों बड़ाइ उड़ी पड़ि जाँव ।
यथा से कान्हाइँर मुख देखिते ना पाँव ।

हेन मन करे विष खायाँ मरि जाँव ।
मेदिनी विदार देउ पसियाँ लुकाउँ ।

अर्थ साफ़ है । और दीन चंडीदास की राधा कहती है, आज मेरा दान सफल हुआ कि तुम्हारा संग मिल गया । विधाता ने मिलन का अच्छा अवसर जुटाया :

आजु दान मोर हइल सफल
पाइल तोमार संग ।
बिहि मिलाइल भाल घटाइल
बिकि किनि होलो रंग ॥

द्विज चंडीदास

अभी श्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय और श्री हरेकृष्ण मुखोपाध्याय ने एक तीसरे चंडीदास की सूचना दी है—द्विज चंडीदास । किन्तु हमें उस विवाद में यहाँ नहीं पड़ना है ।

जो भी हो, बड़ू चंडीदास एक उच्चकोटि के कवि थे । राधा का चित्र उनका बड़ा ही मनोहारी है । वे सम्भवतः नान्नूर के रहने वाले थे और वासुली देवी के सेवक थे । रामी धोबिन उनकी साधना-संगिनी थी, जिसकी ऐतिहासिकता सब तरह से प्रमाणित नहीं है । रामी के बजाय तारा, रामतारा उनकी प्रेमिका थी, ऐसा कई लोग कहते हैं ।

विद्यापति और चंडीदास

विद्यापति से इनकी मुलाकात हुई थी, अनेक जगह लोगों ने यह भी उल्लेख किया है । किन्तु दोनों के काल में लम्बे अरसे का अन्तर है । दोनों की तुलना में चंडीदास को श्रेष्ठ ठहराने की चेष्टा की गई है, जिसकी जरूरत नहीं थी । विद्यापति की व्यापकता, पाण्डित्य, प्रतिभा और थी । विद्यापति की युवती राधा साहित्य में अद्वितीय है । पद-लालित्य, शब्द-सौष्ठव, पर्यवेक्षण और स्वर-झंकार—सब अनूठा ।

तत्कालीन रचना की विशेषता

इस युग की रचनाओं में गेयता विशिष्ट बात थी। 'मनसा मंगल' या 'मंगल चंडी', सबको नियमित गाया जाता था। सबमें राग-रागिनियों का उल्लेख भी है। विद्यापति और चंडीदास के पदों का तो कहना ही क्या। कई स्वर-विशेषज्ञों ने बताया है, इन पदों में मूल रूप से ४० राग-रागिनियाँ हैं, जिनमें ३१ तो विशुद्ध हैं, और ६ मिश्रित।

: ५ :

विकास-काल

(चैतन्य-परवर्ती युग)

महाप्रभु चैतन्य का आविर्भाव

चैतन्य के आविर्भाव से बंगला और बंगाल के इतिहास में एक नया और सुनहला अध्याय जुड़ गया। उनका जन्म हुआ था सन् १४८६ ई० में नवद्वीप में। तब बंगाल की भीतरी हालत कुछ अच्छी नहीं थी। चारों ओर राजनीतिक अशान्ति थी। उच्च वर्ग के नौकरी-पेशा लोगों में स्वेच्छाचारिता घर करने लगी थी। केवल ब्राह्मण पण्डितों में ही आचारनिष्ठा सीमित हो गई थी और चूँकि पोषक नहीं रह गए थे, इसलिए पण्डित-सम्प्रदाय भी क्षीण-हीन होने लग गया था। जन-साधारण से आचार-विचार की निष्ठा विदा होने लगी थी। बहुत-से लोग जहाँ-तहाँ मुसलमान भी होने लग गए थे। देश और जाति के भाग्य की ओट में संकट के काले बादल घिरने लगे थे। ऐसे में एक ऐसी धर्म-चेतना का शक्ति-स्रोत अपेक्षित था, जिससे लोगों के डगमगाते विश्वास, हतबल हृदय को एक सहारा हो। देश की इसी जरूरत ने चैतन्य को जन्म दिया। उनके प्रेम-गद्गद् आँसू ने, भेद-भाव-विहीन प्रेम-धर्म ने विच्छिन्न बंगाली जाति को एकता के एक धागे में गूँथ दिया और नये युग के निर्माण की प्रेरक शक्ति दी।

वैष्णव भाव-धारा

साहित्य की धारा को वैष्णवता से ऐसा एक वेग और विस्तार मिला कि उससे तीन सदियों की लम्बाई प्लावित हो गई। सोलहवीं से लेकर अठारहवीं सदी तक बंगला-साहित्य पर वैष्णवता की अमिट छाप रही। अक्सर सोलहवीं सदी के बंगाली कवि इसी भाव-धारा से प्रभावित और उसीके पोषक रहे। कवियों में से लगभग सभी या तो चैतन्य के सेवक या सेवकों के शिष्य रहे। पदावली-कर्त्ताओं की सूची बे-तरह लम्बी है। कोई पौने दो सौ नाम वैष्णव-कवियों की तालिका में आते हैं, जिनमें से एक चंडीदास को छोड़कर बाकी सब-के-सब या तो चैतन्य के ही समय में हुए, या उनके बाद।

चैतन्य का जीवन

चैतन्य के जन्म-काल का नवद्वीप नव्य न्याय का एक अच्छा केन्द्र था और सब ओर उसकी शोहरत थी। चैतन्य के समय में भी रघुनाथ शिरोमणि और स्मार्त रघुनन्दन, दो मशहूर पण्डित हुए। चैतन्य भी संस्कृत की खासी योग्यता रखते थे। कुछ दिनों तक उन्होंने संस्कृत की एक पाठशाला भी चलाई थी। छुटपन में वे नटखट थे। गाँव-घर के लोग उनसे तंग रहते थे। जवानी में वह नटखटपन व्यंग्यप्रियता में बदल गया। उनके व्यंग्य-बाणों से अच्छे-अच्छे पण्डितों के हौसले पस्त हो जाते थे। कहते हैं, दिग्विजयी पण्डित केशव के काश्मीर के शास्त्रार्थ में उन्होंने दाँत खट्टे कर दिए थे। उनका ब्याह लक्ष्मीप्रिया देवी से हुआ था, जिनकी मृत्यु साँप के काटने से हो गई थी। चैतन्य को इसकी मार्मिक पीड़ा पहुँची थी। विष्णु-प्रिया से उनका दुबारा ब्याह रचाकर लोगों ने उन्हें संसार में बाँधकर रखना चाहा था। मगर उनका घाव न भरा। पिता के श्राद्ध-तर्पण के लिए गया जो गये, तो नये चैतन्य होकर लौटे। ईश्वर पुरी से उन्होंने दीक्षा ले ली थी। कुछ दिनों तक तो नवद्वीप में उन्होंने भागवत-पाठ और भजन-कीर्तन में दिन बिताया। उनकी तन्मयता दिन-दिन बढ़ने लगी और केशव भारती से उन्होंने संन्यास लिया।

असाधारण प्रभाव

चैतन्य ने धार्मिक व्याख्यान नहीं दिये, ग्रन्थों की रचना नहीं की। उनकी आत्म-विभोर दशा और प्रेम-विह्वल आँसुओं ने घर-घर, हृदय-हृदय में प्रेम के पावन सन्देश को पहुँचा दिया। जैसा कि सन्त-चरित्र के साथ लोग अजीबो-गरीब करिश्मों के किस्से जोड़ दिया करते हैं, चैतन्य की जीवनी में भी वैसे छूमन्तर के खेल बहुत बताये गए हैं, उनके तथ्यों की ऐतिहासिकता नहीं है। उनका प्रभाव बे-शक असाधारण बढ़ा और जीते-जी ही वे देवता की तरह पूजे गए। छः वर्षों तक तो उन्होंने तीर्थाटन किया और जीवन के बाकी अठारह वर्ष वे पुरी छोड़कर कहीं नहीं गये। अन्तिम दिनों में तो वे बराबर बे-सुध-से ही रहते थे—उनके कानों में ज़ोर-ज़ोर से पद गाये जाने पर भी उन्हें कभी-कभी होश हो आता था और तन्मयता के आँसू आँखों से जारी रहते थे। इस तन्मयता ने वह गज़ब का जादू कर दिखाया कि भक्ति की एक बाढ़-सी आ गई। बंगाल के गाँव-घर मृदंग-मजीरे और पद-गायन के स्वर से गूँज उठे। चैतन्य के अनेक सुयोग्य शिष्य हो गए।

विभिन्न वैष्णव कवि

पद-गायन की ही धूम नहीं पड़ गई, पद-रचनाओं की भी बाढ़ जो आई, तो वह अठारहवीं सदी तक समान रूप से बहती गई। उस काल के प्रमुख पदकर्ताओं में, जिन्हें महाजन भी कहते हैं, चार-पाँच बहुत ही लोकप्रिय हुए और उनके पदों का साहित्यिक मूल्य भी सचमुच उच्चकोटि का है। ऐसे कवि बलरामदास, ज्ञानदास, गोविन्ददास हैं।

गोविन्ददास और उनकी कृतियाँ

गोविन्ददास और बलरामदास नाम के कई पदकार हो गए हैं और अब पदों द्वारा व्यक्ति-विशेष की निश्चित पहचान कठिन हो गई है। ऐतिहासिक विवाद की गुञ्जाइश काफी बढ़ गई है। बलरामदास वात्सल्य रस के मँजे हुए कवि थे। गोविन्ददास को किसी ने बंगाली, तो किसी ने मैथिली कवि कहा। कुछ लोगों ने यह कहा कि गोविन्ददास दो कवि हुए, एक बंगाल

और एक मैथिली। जो हो, गोविन्ददास के तीन ग्रन्थ मिलते हैं—'प्रेम-विलास', 'भक्ति रत्नाकर', 'भक्तमाल'। एक पद का नमूना देखिये :

झर झर जलधर धार।
झंझा पवन विथार॥
झलकत दामिनी माला।
झामरि मैगेल बाला॥
झूठ कि कहब कनाइ।
झुरत तुया बिन राइ॥
झीं-झीं झंकर राति।
झँक सहने नहिं घाति॥
झुमरि दादुरि बोल।
झुलत मदन हिल्लोल॥
झटकि चलत धनि पाश।
झगड़त गोविंददास॥

ज्ञानदास के पद

ज्ञानदास ने बंगला और व्रज बोली, दोनों में समान कुशलता से कविता लिखी है। एक पूर्वराग की कुछेक पंक्तियाँ नमूने के तौर पर दी जाती हैं। राधा कहती है, मैंने स्वप्न में देखा, मेरा प्रियतम सिरहाने आ बैठा है और मेरी नकबेसर छूकर मन्द-मन्द मुस्करा रहा है। सावन की रात। बादल गरज रहे हैं—रिमझिम पानी पड़ रहा है—मैं मगन-मन पलंग पर लेटी हूँ, बदन की साड़ी सरक गई है, अपने-आपकी सुध नहीं है :

स्वपने देखिनु पराण-बन्धुया बसिया शियर पाशे।
नासार बेसर परश करिया ईषत मधुर हासे॥
रजनी श्रावण, घन घन गरजन, रिमझिम शबदे बरिषे।
पालंके शयन रंगे विगलित चीर अंगे नींद नाइ मनेर हरिषे॥

जीवनी-काव्य की नई धारा

जीवनी-काव्य की नई धारा बंगला में यहीं से शुरू हुई और उसे

सच्चे साहित्य की मर्यादा मिली। पिछले दिनों का साहित्य लोक-कथा और गाथाओं, 'रामायण' और 'महाभारत' की कहानियों तक ही सीमित था। यहाँ आकर साहित्य ने प्रकृत जीवन-कथा को सामग्री रूप में अपनाया। चैतन्य के जीवन-सम्बन्धी अनेक उल्लेख-योग्य काव्यों की रचना की गई। इन जीवनीकारों में प्रमुख कवि हैं—मुरारिगुप्त, वृन्दावनदास, लोचनदास, कृष्णदास कविराज, जयानन्द आदि।

चैतन्य-जीवनी

चैतन्य पर पहला काव्य वृन्दावनदास का 'चैतन्य भागवत' है, जो या तो महाप्रभु के रहते ही लिखा गया है या उनकी मृत्यु के आस-पास ही। इसमें तत्कालीन नवद्वीप तथा चैतन्य के आरम्भिक जीवन की कहानी अच्छे ढंग से लिखी गई है। वर्द्धमान जिले के लोचनदास का 'चैतन्य मंगल' मौलिकता की दृष्टि से महत्त्व का नहीं है। वह मुरारिगुप्त के 'श्रीकृष्ण-चैतन्य चरितामृत' का एक प्रकार से अनुवाद है। वह चूँकि पांचाली ढंग की रचना है, इसलिए लोगों में उसका अच्छा आदर रहा। वर्द्धमान जिले के दूसरे कवि कृष्णदास कविराज की 'चैतन्य चरितामृत' एक श्रेष्ठ पुस्तक है। कवि एक विद्वान् और वैसे ही रसवेत्ता थे। चैतन्य के अन्तिम जीवन को उन्होंने निकट से देखा था, इसलिए उसके उस अंश में बहुत-सी ऐसी ज्ञातव्य बातें हैं, जो और ग्रन्थों में नहीं पाई जातीं। आध्यात्मिकता और दार्शनिकता के लिए भी इस ग्रन्थ का लोगों में समादर रहा है। कवि जयानन्द ने भी अपने 'चैतन्य मंगल' को पांचाली के ढंग पर लिखा है। इसमें तथ्यों की मौलिकता या काव्यत्व का उत्कर्ष तो नहीं है, पर यह सहज-सरल है और जन-साधारण आसानी से इसे गा सकते हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में भी चैतन्य-जीवनियाँ कुछ-न-कुछ लिखी जाती रहीं।

गोविन्ददास का कड़चा

इस सम्बन्ध की एक और निहायत छोटी-सी पुस्तक का उल्लेख करना जरूरी है, वह है 'गोविन्ददास का कड़चा'। कहा जाता है, गोविन्ददास

यों कोई खास पढ़े-लिखे व्यक्ति न थे, पर दो साल तक उन्होंने महाप्रभु के निकट-से-निकट रहने का अवसर पाया था। दिन-रात कभी उनसे अलग नहीं हुए। फलस्वरूप उनके दक्षिण-भ्रमण के बारे में इसमें कुछ ऐसे मूल्यवान तथ्य मिलते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। बाकी जिन लोगों ने जीवनियाँ लिखी हैं, सुने हुए तथ्यों के आधार पर। उनमें इसकी यथातथ्यता नहीं आ पाई है। गोविन्द जाति के कमार और वर्द्धमान के कंचन नगर के निवासी थे। उनकी पत्नी उठते-बैठते उन्हें मूर्ख और निर्गुण कहकर झिड़कियाँ देती थी। दुःख और अफ़सोस से एक दिन वे निकल भागे थे और चैतन्य के सेवक बन गए थे। 'कड़चा' ऐतिहासिक और भौगोलिक तथ्यों का एक सिलसिलेवार लेखा है। अब कई विद्वानों को इसमें शंका होने लगी है कि वह ग्रन्थ खांटी और निखालिश है। किन्तु यदि सचमुच ही उसमें मिलावट न हो, तो वह एक मूल्यवान पोथी है।

अन्यान्य रचनाएँ

अद्वैताचार्य की भी कुछ अच्छी जीवनियाँ लिखी गईं। 'भक्तमाल', 'भक्ति रत्नावली', 'कृष्ण मंगल' आदि के अनुवाद भी होते रहे। 'मनसा-मंगल' और 'चण्डी-मंगल' की शाखा भी अपने ढंग से फलती-फूलती रही। 'रामायण', 'महाभारत' और पौराणिक उपाख्यानों पर भी तरह-तरह के काव्य लिखे जाते रहे। यह क्रम अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक चलता रहा। जिनमें से विस्तार में न जाकर हम यहाँ उल्लेखनीय बातों की ही चर्चा करेंगे।

इस युग के 'मनसा-मंगल'

जो बाद के 'मनसा-मंगल'-काव्य मिले हैं, उनके कवियों में वंशीवादन, नारायणदेव और क्षेमानन्द केतकादास के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। वंशीवादन जिला मैमनसिंह के रहने वाले थे। थे तो वे संस्कृत के पण्डित, पर बड़े ही गरीब थे। मनसा की पांचाली गाकर ही वे अपनी जीविका कमाते थे। संस्कृत की दुरूहता से उन्होंने अपने काव्य को अछूता

रखा है। वहाँ की एक ग्राम-गाथा से उनकी विदुषी पुत्री चन्द्रावती का पता चलता है। उसकी शादी किसी से तै हुई थी, जो आगे चलकर नट गया। चन्द्रावती ने फिर आजन्म विवाह ही नहीं किया। 'मनसा मंगल' लिखने में चन्द्रावती ने पिता को मदद भी दी थी।

नारायणदेव भी मैमनसिंह इलाके के रहने वाले थे। उनका पूरा नाम रामनारायणदेव था और उन्हें 'सुकवि वल्लभ' की उपाधि मिली थी। इनकी एक दूसरी कृति भी पाई जाती है—'कालिका पुराण'।

केतकादास-क्षेमानन्द

केतकादास-क्षेमानन्द के 'मनसा मंगल' में २६०० श्लोक हैं। नाम से लगता है, जैसे ये अलग-अलग दो व्यक्ति हों। उनके जो ६६ पद पाये गए हैं, उनमें से ४० में तो क्षेमानन्द की भणिता है, बाकी २६ में केतकादास की। दोनों तरह के पदों में रस की विभिन्नता भी है—एक में करुण-रस है, दूसरे में हास्य। फिर भी दोनों एक ही व्यक्ति हैं, ऐसा पता चलता है। लगता है, नाम उनका क्षेमानन्द था और केतकादास उनका उपनाम था। केतका मनसा देवी का नाम है, उन्हींका दास। एक पद में ऐसा लिखा है :

बनेर भीतर नाम मनसा कुमारी।
केचा पाते जन्म हैल केतका सुन्दरी॥

'मनसा-मंगल' के अन्य कवि

इन सबके अतिरिक्त अठारहवीं सदी में उत्तर और पूर्व-बंगाल में कुछ मनसा-मंगल-काव्य रचे गए। सन् १७०३ में चटगाँव के कवि रामजीवन विद्याभूषण ने व्रत-कथा-जैसा छोटा-सा मनसा-मंगल-काव्य लिखा। 'द्विज' रसिक का 'मनसा-मंगल' लेकिन एक बड़ा-सा काव्य है। सन् १७४४ में जीवनकृष्ण मैत्र ने मनसा की पांचाली लिखी। कवि षष्ठीवर और द्विज जानकीराम के मनसा-मंगल का भी नाम लिया जा सकता है।

'चंडी-मंगल' और उसके कवि

'चण्डी-मंगल' पर लिखे काव्य तो सोलहवीं सदी के पाये जाते हैं, पर

यह कथा-परम्परा पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम ओर प्रचलित थी। कहते हैं, इस उपाख्यान की रचना द्विज जनार्दन ने की थी। यह कथा पुराण आदि में नहीं पाई जाती। यह एक लोक-रचना है और व्रत-कथा के रूप में लोगों में चलती रही है। चंडी तो देवी थी। कल्याण और उन्नति-कामना में जिस प्रकार चिरपरिचित भगवान् को लोगों ने सर्वसुलभ सत्यनारायण का रूप दिया, उसी प्रकार चंडी भी सम्भवतः मंगलचंडी हो गई। इस पर बंगाल में अनेक काव्य रचे गए।

चंडी मंगल की कहानी

काव्य की कथावस्तु दो तरह की पाई जाती है। दोनों कहानियाँ यहाँ संक्षेप में दी जाती हैं—

एक

लोमस मुनि समुद्र के किनारे तप कर रहे थे। इन्द्र के बेटे नीलाम्बर ने उनसे कहा, 'मुनिवर, इस धूप-सरदी में जो तप करते हैं, उससे एक झोंपड़ा डाल लेना अच्छा नहीं होता क्या?' लोमस ने कहा, 'घर? इस नश्वर जीवन के लिए घर क्या बाँधा जाय? नीलाम्बर ने पूछा, आपकी उमर क्या हुई होगी?' लोमस ने कहा, 'यह कहना तो कठिन है। तब यही समझो, एक-एक इन्द्र जब मरते हैं, तब मेरा एक रोआँ झड़ता है। और ये सारे रोएँ जिस दिन झड़ जायँगे, मैं भी चल बसूँगा।' तब नीलाम्बर ने पूछा, 'इतने दिनों में तो आप मर जायँगे आखिर अमर यहाँ कौन है?' लोमश ने बताया—'अमर हैं शिव।'

सो शिव की ही सेवा में नीलाम्बर जुट पड़े। पूजा के फूलों में कहीं एक कीड़ा छिपा था। उसने शिव को काट खाया। बिगड़कर शिव ने नीलाम्बर को शाप दिया, 'पृथ्वी पर पैदा हो।' नीलाम्बर एक व्याध के घर आ जन्मे। नाम हुआ कालकेतु। कालकेतु की स्त्री थी फुल्लरा। कष्ट में दिन कटते थे। वह शिकार मार लाता, फुल्लरा सिर पर उठाकर बेच लाती। इधर पशुओं ने चंडी के पास फ़रियाद पहुँचाई—'इस कालकेतु व्याध के मारे हमारी खैर नहीं। उस व्याध से हमें बचायें।' चंडी ने पशुओं को अभय

दिया। सो उस दिन कालकेतु तमाम जंगल छान गया, शिकार हाथ नहीं आया। आते वक्त वह एक सुनहली गोह को जिन्दा पकड़ लाया। स्त्री घर नहीं थी। गोह को एक खम्भे में बाँधकर वह स्त्री को ढूँढ़ने गया। इतने में गोह एक सोलह साल की सुन्दरी बनकर बैठ रही। फुल्लरा जो आई, तो अवाक्, एक सुनहला चाँद दरवाजे पर! पूछा, 'आप?' युवती बोली, 'मैं एक अभागिन हूँ। मेरा पति बूढ़ा है—तिस पर एक सौत। रात-दिन की खटपट से मैं जान लेकर भाग निकली हूँ।' फुल्लरा ने उसे लाख समझाया, 'जो भी हो, स्त्री के लिए पति का घर ही सर्वस्व है।' वह न डिगी। कालकेतु आया तो वह भी बड़े असमंजस में पड़ गया। उसने भी उसे बहुतेरा समझाया, उपदेश दिये। इस पर देवी परम प्रसन्न होकर प्रकट हो गई और कालकेतु को एक अंगूठी दी। उस अंगूठी से जादू हो गया। कालकेतु राजा हो गया।

इलाके के तमाम जंगल कटवाकर उसने नया राज बसाया। उस राज्य में बहुतेरे लोग आ बसे। बहुतों में एक धूर्त शिरोमणि भाँड़दत्त भी आ पहुँचा। उसकी काली करतूतों से कालकेतु ने उसे राज्य से निकाल बाहर किया। फिर क्या था, उस धूर्त ने दूसरे राजा से कालकेतु पर चढ़ाई करवा दी। कालकेतु बन्दी हुआ। देवी चंडी की कृपा से वह यम-यातना से मुक्त हुआ। संक्षेप में यही पहली कहानी है।

दो

दूसरी कहानी उज्जयिनी के धनपति वणिक की है। उसकी पत्नी थी लहना। वह निस्सन्तान थी। धनपति ने खुल्लना से अपनी दूसरी शादी कर ली। वह रत्नमाला अप्सरा थी, जो शाप से नारी बन गई थी। लहना ने सौत को अपार कष्ट दिये। वणिक एक बार जब बाहर गया, खुल्लना की सौत ने बड़ी दुर्गत की। धनपति ने लौटकर फिर सँभाला। खुल्लना गर्भवती थी कि धनपति को सिंहल जाना पड़ा। राह में समुद्र में उसने एक अजीब घटना देखी। कमल पर एक सुन्दरी बैठी है और बार-बार एक हाथी को निगलती-उगलती है। यह घटना धनपति ने सिंहल के राजा से

कही। सिंहल के राजा ने उसे झूठ कहकर खिल्ली उड़ाई। धनपति ने उसे आँखों दिखाने की प्रतिज्ञा की। पूरी न कर सका और वहाँ कैद में सड़ता रहा।

इधर खुल्लना के सुन्दर लड़का हुआ—श्रीमन्त। बड़े होने पर उसे खोये पिता को लौटा लाने की धुन सवार हुई। उसने भी सिंहल की यात्रा की और रास्ते में वही घटना देखी। वह भी सिंहल-नरेश को यह घटना प्रत्यक्ष न दिखा सका। उसे प्राण-दण्ड की आज्ञा हुई। अब चण्डी देवी को दया आई। उसने राजा से सबको छोड़ देने को कहा। राजा ने एक न सुनी। फिर क्या था, भूत-प्रेतों की सेना सिंहल पर चढ़ दौड़ी। राजा हार गए और उसने सबको छोड़ दिया। श्रीमन्त से उसने अपनी बेटी का ब्याह कर दिया। सब लोग लौटे और सुख से रहने लगे।

कवि कंकण मुकुन्दराम

'चण्डी मंगल' के सबसे प्रसिद्ध कवि कवि कंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती ही हुए। माधवाचार्य का 'चण्डी मंगल' उनसे पहले का है और सम्भवतः १५८० ई० में लिखा गया। किन्तु भाषा, कवित्व-शक्ति और चरित्र-वर्णन में कवि कंकण को कोई नहीं लगता। बाद में भी इस विषय के जितने काव्य लिखे गए, फीके रहे। कवि कंकण की शैली यथार्थवादी है और उनके काव्य में १६वीं सदी के बंगाल का जीता-जागता चित्र मिलता है। डॉ० ग्रियर्सन ने तो उनकी कविता के लिए लिखा है, 'वह हृदय से निकलती है, मस्तिष्क से नहीं।' तत्कालीन जातीय जीवन की स्थिति, दुःख-दर्द आदि सभी इनके वर्णन से जीवन्त हो उठे हैं।

मुसलमानी शासन का उत्पीड़न

बंगला पर मुसलमानों का अशेष ऋण है। हुसैनशाह के शासन-काल में इतिहास को एक निर्मल अध्याय मिला, यह भी ठीक है। किन्तु मुस्लिम राजत्व-काल में हिन्दुओं पर अत्याचार-उत्पीड़न भी कम नहीं हुए, जिससे समाज एक आतंक से त्रस्त था। कर की अदायगी में बड़ी कड़ाई बरती जाती

थी। कानून में काफ़िरों पर मुस्लिम दीवान को ज़ुल्म ढाने का साफ अधिकार दिया गया था। कर न चुकाने पर हिन्दुओं को मुँह खोलकर मुसलमान से उसमें थुकवा लेने की तम्बीह थी। ऐसे ही एक ज़ुल्मी डिहिदार महमूद शरीफ़ का जिक्र कवि कंकण ने किया है :

धन्य राजा मानसिंह चण्डीपदांबुजे भृङ्ग
गौड़ बंग उत्कल अधीप
अधर्मी राजार काले प्रजार पापेर फले
खिलात पाय मामूद शरीफ ॥

अर्थात् आज के राजा मानसिंह धन्य हैं कि उन्होंने गौड़, बंग और उत्कल की प्रजा को सुख से रखा है। विधर्मी मुसलमान राजा (सम्भवतः हुसैन कुली खाँ या मुज़फ़्फ़र खाँ) के समय प्रजा पर महमूद शरीफ ने तो बेहद ज़ुल्म ढाये।

'चण्डी मंगल' के भाँड़ूदत्त का चरित्र खूब निखरा है। वह धूर्तता की एक जीवित मूर्ति है—दाव-पेंच में शकुनि का समकोटिक।

कृष्ण मंगल-काव्य

'मनसा मंगल' और 'चण्डी मंगल' के समान सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में 'कृष्ण-मंगल' काव्य भी कई लिखे गए। जिनमें से दुखी श्यामदास का 'गोविन्द मंगल', द्विज हरिदास का 'मुकुन्द मंगल', अभिराम का 'गोविन्द विजय', भवानन्द का 'हरिवंश' सत्रहवीं सदी में उल्लेख-योग्य हैं। इन दो सदियों में महाभारत-काव्य भी कई लिखे गए। द्विज हरिदास, घनश्यामदास, कृष्णानन्द बसु ने केवल अश्वमेध पर्व लिखा। विशारद कवि ने वन और विराट् पर्व लिखा। अठारहवीं सदी में कविचन्द्र चक्रवर्त्ती, षष्ठीवरसेन और त्रिलोचन चक्रवर्त्ती ने पूरे महाभारत की रचना की। महाभारत के कवियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय काशीराम दास हुए। इन्होंने अपना काव्य सत्रहवीं सदी के आरम्भ में लिखा था।

महाभारत की लोकप्रियता

रामायण के लिए जो यश बंगला में कृत्तिवास को मिला, महाभारत

के लिए वही काशीराम दास को मिला। शुरू से आज तक इसका समान आदर है और अमीर-गरीब सबमें इसकी चर्चा है। जहाँ जाइये, उनकी निम्न पंक्तियाँ लोगों को कण्ठ हैं :

महाभारतेरि कथा अमृत समान।
काशीरामदास कहे शुने पुण्यवान॥

यह ग्रन्थ तब से बंगाल में नैतिक शिक्षा के गुरु का कार्य करता आ रहा है। पुस्तक में भाषा-विषयक युग-सन्धि का स्वरूप है। संस्कृत की समास-बहुल अनुप्रासिक शब्द-योजना का मोह जहाँ-तहाँ है, पर उसकी सादगी और सरल शक्तिमत्ता की ओर आग्रह अधिक है।

अभिनव भाव-धारा

साधना के इन प्रयासों में लकीर की फकीरी ही रही। घूम-फिरकर सब कवि विषय-वस्तु के उसी सीमित-दायरे में घूमते रहे। सत्रहवीं सदी के अन्त की ओर एक कवि में हमें विषय-वस्तु की मौलिक अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। ये कवि थे कृष्णरामदास। ये कलकत्ता के बेलघरिया के पास निमता के रहने वाले थे और जाति के कायस्थ थे। इनकी कवित्व-शक्ति तो वैसी पैनी नहीं थी, पर सूझ नई थी।

'षष्ठी मंगल' और 'राय मंगल'

इन्होंने तीन काव्यों की रचना की। 'षष्ठी मंगल', 'राय मंगल' और 'कालिका पुराण'। 'षष्ठी मंगल' एक व्रत-कथा है। बंगाल में पुत्र के कल्याण के लिए माताएँ इस व्रत का पालन करती हैं। 'राय मंगल' में सुन्दर वन के बाघ-देवता दक्षिणराय का माहात्म्य है। दक्षिणराय पर इनके पहले एक कवि माधवाचार्य ने भी कुछ लिखा था, कृष्णराम ने ही इसका उल्लेख किया है। 'राय मंगल' में कालूराय तथा पीर बड़े खाँ गाजी की कहानी भी प्रसंगवश आई है, जिनके लोक-गीत मैमनसिंह में आज भी प्रचलित हैं। 'राय मंगल' में देवी-माहात्म्य के बहाने विद्यासुन्दर की कहानी कही गई है, जिसका प्रचार अठारहवीं सदी में पश्चिमी बंगाल में बेहद

बढ़ गया था। कृष्णदास के काव्य में ही जैसे उसकी प्राथमिक भूमिका थी।

'विद्या सुन्दर'-काव्य और उसके कवि

अठारहवीं सदी में 'विद्या सुन्दर' काव्य लिखने वाले सात कवियों के नाम लिये जा सकते हैं, बलराम कविशेखर, भारतचन्द्र राय गुणाकर, रामप्रसाद सेन कविरंजन, आचार्य कविरत्न राधाकान्त, मिश्र, कवीन्द्र चक्रवर्त्ती और प्राणराम चक्रवर्त्ती। इन सबमें काव्य-कृतित्व में भारतचन्द्र और रामप्रसाद ही निस्सन्देह श्रेष्ठ हैं।

'विद्या सुन्दर' कथा का आधार

'विद्या सुन्दर' की मूल कहानी विल्हण-कृत 'चौर पंचाशिका' से बहुत-कुछ मिलती है। ऐसा खयाल किया जाता है कि वही कविता बाद में संस्कृत-नाटक के रूप में ढाल दी गई। वररुचि के नाम से भी एक 'विद्या सुन्दर' मिलता है, किन्तु यह इसलिए नया जान पड़ता है क्योंकि पिछले उपाख्यान में कहीं देवी-देवता का नाम-गन्ध नहीं मिलता। लोक-ग्राह्य बनाने के लिए ही सम्भवतः उसे धार्मिकता का जामा पहनाया गया। किन्तु कहानी से यह स्पष्ट होता है कि उस पर सम्राटों और नवाबी दरबारों की विलासिता का प्रभाव पड़ा है। तत्कालीन समाज की विकृत रुचि का परिचय इसमें साफ़ है।

'विद्या सुन्दर' की कहानी

कहानी संक्षेप में यों है, सुन्दर नाम का एक विदेशी राजकुमार है। वह मालिनी को दूती बनाकर राजकुमारी विद्या पर प्रेम का जाल फैलाता है। विद्या की माता पर यह राज़ ज़ाहिर हो जाता है। वह राजा के कानों में यह खबर पहुँचा देती है। राजा ने राजकुमार को पकड़वा मँगाया। उसे प्राण-दण्ड की सज़ा सुनाई गई। किन्तु देवी कालिका ने इस संकट को मेट दिया। वह राजा के सामने प्रकट हुई। सुन्दर को बचाया। राजकुमारी से उसका विवाह कर दिया गया।

भारतचन्द्र का 'अन्नदा-मंगल'

देवी का अंश जोड़कर किस्से पर धार्मिक कलई चढ़ाने की कोशिश की

गई है, पर साग ढाँके मछली नहीं छिपाई जा सकती। शुरू तरफ़ की प्रेम-कहानी, उसमें प्रेम की डोरी बिछाकर शिकार फँसाने वाली दूती हीरा और विदु ब्राह्मणी, दाई सोनामुखी ये सब चरित्र पतनोन्मुख समाज का संकेत देते हैं। इस कहानी के यशस्वी कवि भारतचन्द्र हैं और उनके काव्य का नाम 'अन्नदा मंगल' है। यह एक काव्य है, किन्तु 'मंगल-काव्य' नहीं है। गो कि उसमें की ऐसी पंक्तियाँ :

कालि कालि कालि कालि कालिके।
चण्डमुण्डि मुण्डखण्डि खण्डमुण्ड मालिके॥

भ्रमवश उसे पूजा-मंडप तक भी ले गई हैं।

राजा कृष्णचन्द्र और उनका दरबार

भारतचन्द्र नवद्वीप के राजा कृष्णचन्द्र के दरबार में थे। विद्यानुराग और शासन-कार्य में राजा की सुख्याति जरूर थी; उनके दरबार में विश्राम खाँ-जैसे गायक, भारतचन्द्र-जैसे कवि और गदाधर तर्कालंकार-जैसे पुराण-पाठी थे। प्रदेश में इन कलावन्तों का यश गूँज उठा था; मगर यह विलास समय को देखते हुए कुछ उचित नहीं था। उन्हींके समय बंगाल वर्गी के हमलों से अस्त-व्यस्त था। उससे छुटकारा मिला तो महा-मारी के कराल गाल में आबादी का लगभग तीसरा हिस्सा जाता रहा। फिर डकैतों के चलते कोई पचास हजार घर और पाँच सौ आदमी जल मरे। किन्तु इन सबके बावजूद राजा की आमोदप्रियता चलती रही—जैसे रोम जल रहा हो और नीरो की बेला बज रही हो। गोपाल भाँड-जैसे मशहूर विदूषक इन्हींकी सभा की शोभा थे। इसलिए तत्कालीन साहित्य से उस विलासप्रियता और कुरुचि की बू आती है।

भारतचन्द्र की भाषा

फिर भी मानना होगा कि भारतचन्द्र का काव्य बड़ा लोकप्रिय हुआ। इस लोकप्रियता का सारा श्रेय उनकी शैली को है। शब्दों की सुष्ठु योजना, वर्णन और प्रवाह द्वारा कवि ने अपनी अद्भुत काव्य-क्षमता का परिचय दिया है।

कवि रामप्रसाद और 'कालिका मंगल'

'कालिका मंगल' के दूसरे श्रेष्ठ कवि रामप्रसाद हैं—जो कवित्व-निपुणता में तो भारतचन्द्र के आगे नहीं टिक सकते, किन्तु जहाँ तक चरित्र-चित्रण का सवाल है, रामप्रसाद का चरित्र-चित्रण निस्संदेह श्रेष्ठ है। इन्हें कवि रंजन की उपाधि मिली थी। और यह उपाधि भी राजा कृष्णचन्द्र ने ही दी थी। किन्तु बहुत आग्रह के बावजूद भी कवि उनके दरबार में नहीं गये। ऐसा कहा जाता है कि ये किसी जमींदार के पटवारी थे। काम-काज के वक्त कभी-कभी सरस्वती जब सवार हो जातीं, ये हिसाब-बही में गीत लिख रखते। एक दिन खुद जमींदार साहब सिरिश्ते के निरीक्षण को पहुँचे। खाता-बही उलटते समय किसी पन्ने पर उन्हें ये पंक्तियाँ मिल गईं :

आमाय दे मां तसिलदारी।
आमि नेमकहाराम नइ शंकरी॥

श्यामा संगीत

जमींदार साहब ने रामप्रसाद को ३० रुपये की पेंशन देकर छुट्टी दी कि अब से घर बैटकर 'श्यामा संगीत' की ही रचना करो। सच पूछिये तो कवि का कृतित्व उनके 'विद्या सुन्दर' काव्य में नहीं है, है 'श्यामा-संगीत' में। आज भी उनके वे आध्यात्मिक गीत सारे बंगाल में उसी आदर और प्रेम से गाये जाते हैं।

आजु गुसाईं की पैरोडी

उनकी उस लोकप्रियता से जलने वाले भी एक जीव उस समय थे। नाम था आजु गुसाईं। वे रामप्रसाद के गीतों की कभी-कभी पैरोडी बनाते थे। जैसे, एक गीत की पैरोडी है—कवि का गीत है :

ए संसार धोकार टाटी।
ओ भाइ आनन्द-बाजार लुटि।
ओरे क्षिति वह्नि वायु जल शून्ये अति परिपाटी।

आजु गोसाईं ने इसको यों लिखा :

एइ संसारे रसेर कुटी।
खाइ-दाइ राजत्वे बसे मजा लुटि।
ओहे सेने नाहिं ज्ञान बुझ तुमि मोटा मुटी।
ओरे भाइ, बन्धु दारा सुत पिंड़ि पेते देय दूधेर वाटी॥

यानी संसार में रस का मजा है, खा-पीकर राज-पाट पर मजा लूटो। ओ सेन (यानी रामप्रसाद), इतनी-सी बात तुम्हारी समझ नहीं आती। भैया, दोस्त-अहबाब, स्त्री-बेटे सब आसन पर बिठालकर कटोरे में दूध पीने को देते हैं।

गीत-परम्परा का प्रचलन

जो हो, रामप्रसाद के 'श्यामा-संगीत' ने लोकप्रियता जो पाई सो पाई, ऐसे गीत-धारा की प्रेरणा भी उसीसे जागी और बाद में उससे बाउल-संगीत तथा अन्यान्य फुटकल गीत बंगला में खूब लिखे गए।

बंगाल के कवियाल

कवियाल बंगला की एक और खास चीज़ है जो साधारणतया कवि-संगीत के नाम से ही परिचित है। इस कोटि के ग्रामीण कवि साधारणतया ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं होते थे। इनकी गोष्ठियाँ होती थीं और दो-चार ऐसे कवियों में होड़ होती थी, जैसा कि बनारस में कजरी या लावनी की होती है। श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय ने वैसे कवियाल के जीवन पर अपना प्रसिद्ध उपन्यास 'कवि' लिखा है। वैसे कवियालों में गोंजला गुई, रासू, नृसिंह, हरि ठाकुर, राम बसु आदि बहुत अच्छे हुए। गोंजला गुई तो बहुत ही पुराने कवियाल हैं—उनमें बारे में ईश्वरचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि वे कोई डेढ़ सौ साल पहले हुए।

कवियाल एण्टोनी साहब

मजे की बात है कि ऐसे ही कवियालों में एक पोर्चुगीज एएटोनी साहब भी हुए। वे धोती-कुर्ते में मजमे में आते थे। कहते हैं, एक ब्राह्मणी के प्रेम में पड़कर वे हिन्दू-से हो आए थे। एक मजमे में ठाकुरसिंह कवि-

याल से उनकी होड़ हो गई। ठाकुरसिंह ने एण्टोनी को भरी भीड़ में ललकारा :

बलो हे एण्टुनि आमि एकटिक कथा जानते चाइ।
एसे ए देशे ए वेशे तोमार गाये केनो कुर्त्ति नाइ॥

यानी, साहब एक बात जानना चाहूँगा, आपके बदन पर कुर्ता क्यों नहीं है।

साहब भी ऐसे-वैसे कवियाल नहीं थे। छूटते ही कहा, 'बंगाल में बंगाली बनकर मजे में हूँ। ठाकुरसिंह के बाप का दामाद बनकर कुर्ता-टोपी को मैंने तिलांजलि दी है' :

एइ बांगालाय बांगालीर वेशे आनन्दे आछि।
होये ठाकुर सिंहेर बापेर जामाइ, कुर्त्ति टुपि छेड़ेछि॥

कवियालों में एण्टोनी ने खासी इज्जत कमाई थी। वे होली-दशहरा में भी भाग लेते थे और काली-दुर्गा की कविता भी कहते थे। जैसे :

जय योगेन्द्र जाया, महामाया, महिमा असीम तोमार।
एक बार दुर्गा दुर्गा दुर्गा बोले जे डाके तोमाय।
तुमि करो तारे भवसिंधु पार। आदि।

: ६ :

आधुनिक काल

गद्य-युग का सूत्रपात

साहित्य की वास्तविक सौभाग्य-सूचना तो गद्य-रचना के सूत्रपात से होती है और वह युगारम्भ बंगला में अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी के संधि-काल से होता है। खोज-ढूँढ़कर नाम लेने को गद्य का नमूना पहले का नहीं मिल सकता, ऐसी बात नहीं। ऐतिहासिक जिज्ञासा वाले लोग बहुत पहले से भी उसका पता-ठिकाना देते हैं, पर हकीकत में वह गद्य क्या है, गद्याभास कह लीजिये।

पुराने गद्य

रमाइ पण्डित के 'शून्य पुराण' और 'देवदामर तन्त्र' में से गद्य के आंशिक नमूने भी लोग पेश करते हैं, जब कि सम्पूर्ण पुस्तक काव्य है। उसीके कहीं-कहीं जो ऊबड़-खाबड़ और कच्चे अंश हैं, उन्हें गद्य प्रमाणित करने की एक चेष्टा है। चंडीदास-कृत किसी एक 'चैतन्य-रूप-प्राप्ति' गद्य-पुस्तक का नाम भी लिया जाता है। हाँ, 'भाषा-परिच्छेद', 'व्यवस्था-तत्त्व', गोस्वामी-कृत 'कारिका' आदि में प्रारम्भिक गद्य के वैसे नमूने मिलते हैं। अठारहवीं सदी के बीचों-बीच शिक्षार्थियों के लिए पण्डितों ने स्मृति और न्याय के कुछ ग्रन्थों का बंगला-अनुवाद किया था, वैद्यक की भी कुछ पुस्तकें

भाषा में अनूदित हुई थीं किन्तु वे महज़ प्रयास थे, उनमें उस ठोस और मज़बूत नींव का परिचय नहीं था, जिस पर कि आज का उन्नत साहित्य खड़ा है। वैसा आभास तो ईस्ट-इंडिया कम्पनी की सत्ता बंगाल में दृढ़ होने पर ही मिला।

अंग्रेज़ों का आगमन और सत्ता-प्राप्ति

बंगाल में अंग्रेज़ों का आगमन लगभग १६२० ई० में ही हो गया था। गोविन्दपुर और सुतानटी में जब उन्होंने अड्डा जमाया, तो बंगाली उनके पास भी नहीं फटकते थे। पलासी की ऐतिहासिक लड़ाई के बाद सन् १७५७ में कम्पनी को कर वसूलने की ज़िम्मेदारी दी गई। थोड़े ही अरसे में उसकी शक्ति ने वह गुल खिलाया कि राज-शक्ति पर अधिकार करके वह प्रदेश का शासन-भार सँभाल बैठी। अब कामों की सहूलियत के लिए स्थानीय भाषा की जानकारी और व्यवहार आवश्यक हो गया और इस ज़रूरत ने भाषा की श्री-वृद्धि में बड़ी मदद पहुँचाई। साहित्य तक तो तब बात नहीं पहुँच पाई, लेकिन आईन-कानून, दस्तावेज, खत-किताबत में उसका व्यवहार बढ़ चला। किन्तु मुद्रण के अभाव में उसकी गति बढ़ सकने की सम्भावना न थी।

बंगला-टाइप का जन्म और पहली छपी पुस्तक

भाग्य से इसी समय कम्पनी के एक कर्मचारी चार्ल्स विल्किन्स ने श्रीरामपुर के एक कमार—पंचानन कर्मकार—को टाइप बनाना सिखाया। सन् १७७८ में उसी टाइप में हुगली से पहली पुस्तक प्रकाशित हुई। पुस्तक हालहेड साहब-लिखित 'बंगला-व्याकरण' थी। अठारहवीं सदी के अन्त तक गद्य की एकाध पुस्तक और भी निकली, पर वह साहित्य कहाने योग्य न थी।

फ़ोर्ट विलियम कालेज और कैरी साहब

गद्य-रचना का वास्तव में श्रीगणेश हुआ सन् १८०० से, जब फोर्ट-विलियम कालेज की स्थापना हुई। यह कालेज कम्पनी के विलायती कर्म-

चारियों के लिए खोला गया था और उसमें पूर्वी-भाषा-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे विलियम कैरी। कैरी श्रीरामपुर में एक पादरी थे। शिक्षा-कार्य शुरू करने में सबसे बड़ी जो दिक्कत सामने आई, वह थी बंगला-पुस्तकों की कमी। पिछला साहित्य तो काव्य ही था, जिसके द्वारा भाषा की व्यावहारिक शिक्षा नहीं दी जा सकती थी। कैरी साहब ने इसके लिए पण्डितों और मुन्शियों की बहाली की और जी-जान से इस कमी को यथा-शीघ्र दूर करने की कोशिश करने लगे।

कैरी की भाषा का नमूना

कैरी ने 'बाइबिल' के अनुवाद के सिवा कोश (तीन भागों में), व्याकरण, इतिहासमाला, कथोपकथन भी लिखा। उनकी शैली बड़ी स्वाभाविक और सरल थी। न संस्कृत के शब्दाडम्बर का मोह, न अरबी-फ़ारसी की ठूँस-टाँस। जैसे :

"एक चोर कोनो गृहस्थेर कतकगुलि द्रव्य चुरि करिया ग्रामोपान्ते जाइते छिल। सेइ समये एक कृषक ताहाके देखिया बोलिल, तुइ जे लोकेर द्रव्यादिलइया जाइते छिस, ताहाके फिरिया दे, नतुवा राज-निकट दण्ड होइबे।"

भाषा में स्वाभाविकता का पुट है और तत्कालीन लेखकों पर इसका खास असर पड़ा है।

कैरी के सहयोगी मृत्युञ्जय विद्यालंकार

उनके सहयोगियों में मृत्युञ्जय विद्यालंकार प्रकाण्ड पण्डित और समर्थ लेखक थे। पहले उनकी भाषा समास-बहुल संस्कृत-प्रधान थी : **उच्छलिच्छि करात्यछे निर्झरान्तकणाच्छन्न होइय आसिते छे।** ऐसी भाषा लिखने वाले मृत्युञ्जय ने भी लिखना शुरू किया : **"स्त्री कहिल, गुड़ होइलेइकि राँधा हय ? तैल नाइ, लून नाइ, चाउल नाइ, तरकारि पाति किछुइ नाइ। काठ-गुलि सकलि भिजा, बेसाति बा कि रूपे हय।"**

मृत्युञ्जय की पुस्तकें

मृत्युञ्जय मेदिनीपुर के रहने वाले थे। उनकी लिखी हुई कई पुस्तकें हैं,

जिनमें से 'बत्रिश सिंहासन' (सिंहासन बत्तीसी), 'राजावलि' और 'प्रबोध-चन्द्रिका' मुख्य हैं। 'राजाबलि' सम्भवतः पहला भारत का इतिहास है। जो हो, छपा हुआ पहला मौलिक ग्रन्थ बंगला में रामराम वसु का 'प्रतापादित्य चरित्र' ही है। कैरी साहब के प्रोत्साहन से अनेक लोगों ने पुस्तकें लिखीं, जिनमें और जो उल्लेखनीय हैं, वे हैं, गोलोक शर्मा का 'हितोपदेश', रामराम वसु की दूसरी पुस्तक 'लिपिमाला', राजीवलोचन मुखोपाध्याय का 'महाराज कृष्णचन्द्र रायस्य चरित्रम्'।

पोर्तुगीज पादरियों के भी कुछ ग्रन्थ निकले थे, जो लगभग रोमन हरूफ में ही थे। कानून की दो-चार पोथियाँ, बाइबिल का एकाध अनुवाद बंगला-अक्षरों में छपा था। कैरी, मार्शमैन आदि शिक्षा-प्रचारकों की प्रेरणा से इस दिशा में काम तो बहुत हुआ, पर उनकी न तो मौलिकता का महत्त्व था, न साहित्यिक मूल्य। या तो वे अनुवाद थे या फिर पाठ्य पुस्तकें थीं।

राजा राममोहन राय

अनुवादों की इस बाढ़ से साहित्य की निजस्व धारा को निकालकर प्राञ्जलता देने वाले पहले व्यक्ति थे राजा राममोहन राय। इन्हें जो आधुनिकता का अग्रदूत कहा गया है, सो ठीक ही है। उन्होंने वेदान्त और शास्त्रों पर कई सुन्दर ग्रन्थ लिखे, एक व्याकरण भी लिखा था।

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ

इन सारी कोशिशों के बावजूद गद्य के प्रवाह में न तो वह गति आ पाई, न विस्तार। लोक-रुचि ही उधर को न मुड़ सकी। पाठ्य-पुस्तकों के प्रसार का एक तो दायरा ही बड़ा सँकरा था, फिर ईसाइयों के नाम पर लोग नाक-भौं भी सिकोड़ते थे। इसी बीच कैरी साहब के उद्योग से सन् १८१८ में एक मासिक पत्र निकला—'दिग्दर्शन'। पत्र अल्पायु हुआ। अकाल मृत्यु हुई। उसके बाद ही मार्शमैन के सम्पादकत्व में 'समाचार-दर्पण' साप्ताहिक निकला। उसीके आस-पास श्री गंगाकिशोर भट्टाचार्य का 'बंगाल-

गजट' प्रकाशित हुआ। इन सामयिक पत्रों ने गद्य के लिए लोक-रुचि का निर्माण किया और उसके क्षेत्र को व्यापक बनाया। जो लोग 'ईसाईयत' की बू से भिनकते थे, वे भी 'समाचार दर्पण' की ओर आकर्षित हुए और भाषा तथा साहित्य के स्वरूप और सम्भावना से परिचित होने लगे। पत्रों के लिए बढ़ते हुए क्षेत्र और माँग से आशान्वित होकर बहुतों ने इसमें सहयोग दिया। दो-तीन साल के अन्दर-ही-अन्दर और कई ऐसे पत्र निकले, जिनमें से 'संवाद कौमुदी' और 'समाचार चन्द्रिका' प्रधान हैं।

सांवादिकता और साहित्य-सृष्टि

सांवादिकता साहित्य-सर्जना से एक अलग-सी चीज़ जरूर है, किन्तु ऐसे भी पत्रकार हुए हैं, जिन्होंने साहित्य के मार्ग को प्रशस्त करने में अपनी प्रतिभा के दान का भी सहयोग दिया है। 'समाचार चन्द्रिका' के सम्पादक भवानीचरण वंद्योपाध्याय ने पत्रकारिता के अतिरिक्त पुस्तकें भी कई लिखीं। उनकी शैली तीखे व्यंग्य से बड़ी जोरदार हो गई थी। उन्होंने धनियों के दुराचार की बड़ी कड़ी आलोचना की। हास्य रस के वे अच्छे लेखक थे और गद्य-पद्य दोनों में लिखते थे। अतएव उनमें प्राचीन पद्य और नये गद्य का बहुत अच्छा सामंजस्य देखने को मिला।

ईश्वरचन्द्र गुप्त और उनकी कविता

इनसे भी अधिक सशक्त और समर्थ सांवादिक श्री ईश्वरचन्द्र गुप्त हुए, जिनका बंगला में अच्छा स्थान है। उन्होंने संस्कृत और बंगला में तो अच्छा लिखा ही है, थोड़ा-बहुत अंग्रेजी में भी लिखा है। उनके पत्र 'संवाद प्रभाकर' की बंगला में बहुत बड़ी देन है। उस पत्र से अनेक लेखक-कवि प्रोत्साहन पाकर सामने आये। ईश्वरचन्द्र ने दो युगों को जोड़ने की कड़ी का काम किया। गद्य-पद्य दोनों में उनका समान अधिकार था। ये पुराने युग के अन्तिम और नये युग के पहले कवि थे। अंग्रेजी और अंग्रेजियत से तत्कालीन समाज में जो नयापन आ रहा था, उस प्रभाव के खिलाफ़ उन्होंने बहुत-कुछ लिखा था। जैसे अंग्रेजी चाल-चलन अपनाने वाली स्त्रियों के

लिए उनकी यह कविता :

आगे मेयेगुलो छिलो भालो
व्रत धर्म कोर्त्तो सबे।
एका बेथुन एसे शेष कोरेछे
आर कि तादेर तेमन पाबे।
जतो छूँड़ी गुलो तुड़ी मेरे
केताब हाते निच्छे जबे।
तखन ए बि शिखे बिबिसेजे
बिलाति बोल कबेइ कबे।
जखन आसबे शमन कोरबे दमन
कि बोले ताय बुझाइबे
बुझि 'हुट' बोले 'बुट' पाये दिये
'चुरुट' फुँके स्वर्गे जाबे।

यानी पहले की लड़कियाँ भली थीं, व्रत-पूजा करती थीं। अब एक बेथुन आया। (लड़कियों का बेथुन कालेज) और सब चाट गया। भला अब उन्हें वैसी पायँगे ? जब वे किताबें लिये डोलती चलती हैं, तब तो ए० बी० सीखकर विलायती बोल जरूर ही बोलेंगी। जब शमन आ धमकेगा और दमन शुरू करेगा, तब उसे क्या कहकर समझाओगे ? शायद हुट करके पाँवों में बूट डाले चुरुट पीते हुए स्वर्ग जाओगे।

अंग्रेज़ी प्रभाव का बुरा परिणाम

बंगला की श्री-वृद्धि में अंग्रेजों का बेशक बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि वे न आये होते, तो क्या होता। पर उसी तरह अंग्रेजी ने मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति विमुखता और उदासीनता का भी विष फैलाया था, जिसके लिए आगे चलकर समर्थ लोगों को बदस्तूर बहुत प्रचार-प्रसार करना पड़ा। अच्छी-से-अच्छी प्रतिभाएँ अंग्रेजी-साधना में लग गईं, पढ़े-लिखे लोग बंगला-पुस्तकों को

हेय समझकर अंग्रेजी ही की चर्चा में लग गए। मुसलमानी शासन-काल में बंगालियों में ऐसी आत्म-विस्मृति कभी नहीं आई थी। अंग्रेजी की जाने क्या बयार आई और वे अंग्रेज बनने के लिए पागल हो उठे।

रामराम मिश्र और आनन्दीराम

सन् १७७४ में जब कलकत्ता में सुप्रीम कोर्ट की स्थापना हुई, तो अंग्रेजी सीखने-सिखाने की अनिवार्य आवश्यकता आ पड़ी थी। तब रामराम मिश्र और आनन्दीराम नाम के दो व्यक्तियों ने अंग्रेजी सिखाने का पेशा शुरू किया था। अंग्रेजी लोभातुर कलकत्ता के बड़े-से-बड़े परिवार के लोगों को इन दोनों की पनाह में जाना पड़ा था। रामराम मिश्र ने बाजाब्ता क्लास खोली थी और खासी रकम पैदा की थी। अंग्रेजी की जानकारी में आनन्दीराम की शुहरत ज्यादा थी।

आनन्दीराम का शब्द-संग्रह

उनके पास एक शब्द-संग्रह था, जो एक मूल्यवान रत्न ही माना जाता था। उनकी जो बड़ी खिदमत करता था और सेवा या पैसे से उन्हें रिझा सकता था, उन्हें वे प्रतिदिन पाँच शब्द के हिसाब से दान करते थे।

गुमराह बंगाली युवक-सम्प्रदाय

इस तरह जो अंग्रेजी वहाँ पहुँची, (जो टामस डिस् के 'स्पेलिंग बुक ओ स्कूल मास्टर' तक ही महदूद थी), वह समयानुक्रम से डेविड हेयर साहब, डिरोजियो रिचर्ड्सन आदि की उच्च शिक्षा के फलस्वरूप बेतरह फैल गई। फिर नवयुवकों का एक विराट् सम्प्रदाय अंग्रेजी को ही भाषा और शेक्स-पियर आदि को ही कवि समझने लगा। बंगला में उनके लिए रूप-गुण का कोई आकर्षण ही न रहा। वे अंग्रेजी ही में सपने तक देखने लगे और इस तरह बंगला की समुचित गति पर भारी बाधा आन पड़ी। 'संवाद-प्रभाकर' में ईश्वरचन्द्र गुप्त ने लिखा, 'भैया, दुनिया में भारी उलट-पुलट हो गई, अब खैर नहीं। ये काले युवक सारे-के-सारे साहब बन बैठे, आड़ी-

तिरछी अंग्रेजी बोलते हैं, कहते हैं 'यू बांगाली, डैम, गो टु हेल।' पास आये कि घूँसा लगा :

हय दुनिया उलट पालट
आर किसे भाइ रक्खे होबे।
जत कालेर युबो जेनो सुबो
इंगरेजी कय बाँका भाबे॥
बले यू बांगाली, डैम, गो-टु हेल
काछे एलेइ कोंत्का खाबे।

अंग्रेज़ियत से आत्म-रक्षा के प्रयास

बंगाल और बंगला के हितैषी इससे आतंकित हो उटे और इसके लिए पत्र-पत्रिकाओं द्वारा उन्होंने लिखा-पढ़ी शुरू की। ईश्वरचन्द्र के अनन्तर महर्षि देवेन्द्रनाथ और राजेन्द्रलाल ने मातृभाषा और स्वदेश की दुहाई देकर अंग्रेज़ियत के खिलाफ़ आवाज़ उठाई। देवेन्द्रनाथ के हाथों में 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका थी और राजेन्द्रलाल ने लिखा 'विविधार्थ संग्रह'। और इसका सुफल हुआ; कई प्रतिभावान, जो अंग्रेजी के मोह-कानन में राह भूले थे, घर की ओर लौटे। प्यारीचाँद और राधानाथ ने अंग्रेजी-प्रेम के मोह-पाश से मुक्त होकर बंगला में 'मासिक पत्रिका' निकाली। 'कैप्टिव-लेडी' लिखने वाले अंग्रेजी के हिमायती कवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने मातृ-भाषा की महत्ता मानी और उन्होंने बंग-सरस्वती की वेदी पर 'मेघनाद-बध' 'व्रजांगना वीरांगना', 'चतुर्दशपदी', 'बुड़ो सालिकेर घाड़े रो' और 'एकेइ कि बले सभ्यता' की भेंट चढ़ाई। टेकचाँद का बंगला में प्रथम उपन्यास 'आलालेर घरे दुलाल' आया और कृष्णकमल भट्टाचार्य ने लिखा—'दुराकांक्षेर वृथा भ्रमण।'

बंकिम बाबू का 'बंग-दर्शन'

इस अंग्रेजियत ने काफी लम्बे अरसे तक अपना प्रभाव फैलाया था,

आगे चलकर बंकिमचन्द्र को भी अपने 'बंग दर्शन' पत्र द्वारा समय-समय पर इस सम्बन्ध में जोर-शोर से लिखते रहने की जरूरत पड़ी थी। एक बार उन्होंने लिखा, 'जो लोग बंगला-ग्रन्थ या सामयिक पत्र-प्रचार में लगे हैं, उनके दुर्भाग्य का कहना नहीं। वे चाहे लाख कोशिश करें, देश का कृतविद्य सम्प्रदाय उनकी रचनाएँ पढ़ने से उदासीन है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की निश्चित धारणा-सी हो गई है कि बंगला में उनके पढ़ने-योग्य कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। उनके खयाल में बंगला-लेखक या तो विद्या-बुद्धिहीन, लेखन-कुशलता-विहीन हैं या वे महज् अंग्रेजी के अनुवादक हैं। उनका विश्वास है, बंगला में जो-कुछ भी लिखा जाता है, वह या तो अपाठ्य है, या अंग्रेजी की छाया है और जो अंग्रेजी में है, उसे बंगला में पढ़ने की मूर्खता क्यों की जाय। इस तरह काली चमड़ी के अपराधी हम लोग सदा इसकी सफाई देते फिरते हैं, वे बंगला पढ़कर कबूल जवाब क्यों दें।'

अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं की सेवा

बंकिम बाबू के 'बंग दर्शन' ने बड़ा काम किया। देखा-देखी अन्य अनेक पत्र निकल आए और बंगला की सौभाग्य-रचना में सहायक हुए। 'आर्य-दर्शन', 'बांधव', 'भ्रमर', 'ज्ञानांकुर', 'भारती', 'नवजीवन', 'साधारणी', 'प्रचार', 'साधना' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने बंगला के प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया। 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका से देश-प्रेम, भाषा-प्रेम और प्राचीन संस्कृति की रक्षा की जो आप्राण चेष्टा महर्षि देवेंद्रनाथ ने की, 'भारती' और 'साधना' द्वारा उनकी सन्तान—द्विजेन्द्र, रवीन्द्र, स्वर्णकुमारी देवी आदि—ने सेवा में उस यज्ञ-कुण्ड में सदा आहुति जुगाई। धीरे-धीरे मातृभाषा के प्रति लोगों का प्रेम बढ़ा और छोटी-सी अवधि में बंगला काफी समृद्ध हो सकी। बंगला का आज का पत्र-साहित्य भी काफी समुन्नत है। द्विजेन्द्र लाल राय का 'भारतवर्ष', रामानन्द चट्टोपाध्याय का 'प्रवासी', 'विचित्रा', बसुमती, 'बंगश्री' 'शनिवारेर-चिठि', 'तरुणेर स्वप्न', 'परिचय', 'पूर्वाशा', 'मंदिरा', 'मुखपत्र',

'महिला' आदि पत्र-पत्रिकाएँ अच्छी निकल रही हैं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

भाषा-संस्कार की दृष्टि से हिन्दी में जो स्थान आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का है, बंगला में वही स्थान ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का है। इन्होंने अपने अथक श्रम से बंगला को सफल और समर्थ साहित्य का सशक्त वाहन बनाया। आधुनिक बंगला के उन्नायकों में आप अनन्य हैं। इनसे पूर्व जो ग्रन्थादि निकले थे, उनमें से अधिकांश अनुवाद थे और भाषा या तो पण्डिताऊ संस्कृत का बोझिल जामा पहने थी या अंग्रेजी के ढंग-ढर्रे की नकल थी। यति-गति, पद-विन्यास, शब्द-योजना, विराम-चिह्नों का प्रयोग, कुछ भी ठीक-ठिकाने का न था। भाषा की वह पंगुता दूर करके उसे उपयुक्त अभिव्यंजना के अनुकूल रूप देने का प्रथम श्रेय विद्यासागर का है—उन्हें साधु गद्य का जनक ही कहा जा सकता है। बंगला भाषा का जो आज व्यावहारिक रूप है, उसकी प्रथम सूचना वहीं हुई।

विद्यासागर और उनकी रचनाएँ

विद्यासागर के जीवन से प्रायः सभी परिचित हैं। उनका विद्या-व्यसन, शिक्षा-संस्कार, सादगी, श्रमशीलता—सब अनुकरणीय हैं। १८२० ई० में वे मेदिनीपुर जिले के वीरसिंह ग्राम में पैदा हुए थे और १८६१ में उनकी मृत्यु हुई थी। विद्यासागर की मुख्य पुस्तकें हैं—'वासुदेवचरित', 'बैताल-पंचविंशति', 'बांगलार इतिहास', 'जीवनचरित', 'बोधोदय', 'कथामाला', 'शकुन्तला', 'सीता वनवास', 'आख्यान मंजरी', 'महाभारत की उपक्रमणिका', 'भ्रांतिविलास'; 'संस्कृत भाषा ओ संस्कृत साहित्य-शास्त्र विषयक प्रस्ताव', 'उपक्रमणिका' 'संस्कृत व्याकरण कौमुदी' आदि। इनमें से ज़्यादा पुस्तकें यद्यपि-पाठ्य पुस्तकें रही हैं और हिन्दी-संकृति या अंग्रेजी का अनुवाद रही हैं, फिर भी उनकी शैली में अनुवाद की पंक्तिबद्ध दासता नहीं है, स्वतन्त्र रचना का सौंदर्य है। कुछ मौलिक रचनाएँ भी उनकी हैं।

विद्यासागर के अनुयायी

विद्यासागर की लीक पर और जो लोग बंगला-गद्य को सँवारने में सहायक हुए, उनमें से उल्लेख-योग्य हैं—अक्षय-कुमार दत्त, राजनारायण बसु, ताराशंकर तर्करत्न, रामगति न्यायरत्न, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, भूदेव मुखोपाध्याय आदि। वर्धमान के महाराज महताब चाँद बहादुर ने रामायण-महाभारत आदि अनेक संस्कृत-ग्रन्थों के गद्य-पद्यानुवाद प्रकाशित कराये; 'हातिमताई', 'चहार दरवेश', 'सिकन्दरनामा', 'मसनबी' के बंगला-अनुवादों से साहित्य का भण्डार भरा।

बंकिमचन्द्र चटर्जी

'वन्देमातरम्' मन्त्र के स्रष्टा औपन्यासिक-सम्राट् बंकिमचन्द्र ने बंगला-गद्य को ही अपनी रचनाओं से ऐश्वर्यमय नहीं बनाया, बल्कि कथा-साहित्य को एक नई दिशा देकर उन्होंने साहित्य को एक नया वैभव और नया मार्ग दिया। यह अवश्य है कि उनकी रचनाओं की पृष्ठभूमि अंग्रेजी के रोमांस के प्रभाव पर तैयार हुई, लेकिन उनमें विदेशी बू की ही प्रधानता इसलिए नहीं है कि उपन्यास का सारा माल-मसाला देशी है। पात्र-चरित्र, दृश्य-घटना, काल-परिवेश सब-कुछ अपने यहाँ का है।

बंकिम का आदर्शवाद

नीति और आदर्श की ओर उनका झुकाव था और बहुत स्थानों में तो उपन्यासों में वे उपदेशक-से बन गए हैं। उनकी कृतियों के कलात्मक मूल्यांकन में उनके इस आदर्शवाद पर आज बहुत तरह के विरोधी विचार उठते हैं, पर इतना तो कबूल करना ही पड़ेगा कि बंगला में यह श्रेय पहले-पहल उन्हींकी कृतियों का है कि व्यक्ति-जीवन के संकीर्ण दायरे में मानव-प्रीति प्रवेश पा सकी, रस के आनन्द से चित्र का विस्तार हुआ और मुक्ति का मंगल-सन्देश मनःप्रदेश में पहुँचा। देश की परिस्थिति और उससे जन्म लेने वाले भाव-विचारों ने लेखक को आदर्शवादी बनाया। जो भी हो, साहित्य के

लिए उनके प्रयास बड़े मंगलजनक हुए और कथा-साहित्य की धारा को एक अश्रान्त वेग मिला।

बंकिम से पहले के बंगला-उपन्यास

बंकिमचन्द्र के पूर्व नामलेवा दो-एक गल्प-उपन्यास निकले ज़रूर थे, मगर वे कुछ वैसे न थे। टेकचाँद ठाकुर के 'आलालेर घरेर दुलाल' का नाम लिया जा सकता है, जिसने बंकिम पर अपना कुछ प्रभाव डाला था। उसे बंगला-उपन्यास का पूर्वाभास कह सकते हैं। भूदेव मुखोपाध्याय के 'अंगुरीय-विनिमय' से बंकिम को 'दुर्गेशनन्दिनी' के लिए प्रेरणा मिली थी।

बंकिम की कृतियाँ

बंकिम बाबू कलकत्ता-विश्वविद्यालय के पहले ग्रेजुएट (१८५७ ई०) थे। कालेज-जीवन से ही उनकी साहित्य-साधना शुरू हुई थी। पहले वे कविता लिखते थे। उनकी काव्य-पुस्तक है 'ललिता तथा मानस'। कविता में सफलता न मिलने से कुछ दिनों तक तो वे साहित्य-रचना से विमुख रहे। लिखने का दूसरा अध्याय उन्होंने अंग्रेजी में शुरू किया। उनका पहला अंग्रेजी-उपन्यास 'राजमोहन्स वाइफ' के नाम से 'इण्डियन फील्ड' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक में निकला। उसकी भी निस्सारता उन्हें मालूम हुई—फिर वे मातृभाषा की सेवा में दत्तचित्त हुए और एक-एक करके 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपालकुण्डला', 'मृणालिनी', 'विष-वृक्ष', 'इन्दिरा', 'युगलांगुलीय', 'साम्य', 'चन्द्रशेखर', 'कमलाकांत का दफ़्तर', 'रजनी', 'राधारानी', 'कृष्णकान्त का बिल', 'राजसिंह', 'मुचिराम गुड़ का जीवन-चरित', 'आनन्द मठ', 'देवी चौधरानी' और 'सीताराम' निकला। आज बंगला का उपन्यास-साहित्य काफी फूल-फल उठा है; शैली, विषय-वस्तु, दृष्टि सबमें पर्याप्त उन्नति हो गई है, फिर भी बंकिम की रोमाण्टिक धारा का प्रभाव किन्हीं अंशों में है।

बंकिम के समसामयिक कथाकार

बंकिम के समय में या आस-पास और भी अनेक कथाकार हुए।

जिनमें से तारकनाथ गंगोपाध्याय ने अपने 'स्वर्णलता' में स्वाभाविक जीवन के सजीव चित्र दिये। बंकिम के पात्र दैनन्दिन जीवन के हमारे परिचित मनुष्य से परे भाव-लोक के अधिवासी रहे; हाड़-मांस के उन पुतलों का प्रवेश बंगला में यहीं सर्वप्रथम हुआ, जो प्रेम की दिव्य उमंगों के कल्पना-लोक से बाहर मिट्टी की धरती के रहने वाले हैं। रमेशचन्द्र दत्त ने भी कई उपन्यास लिखे, जिनमें चार तो ऐतिहासिक उपन्यास हैं—'बंग-विजेता', 'माधवी कंकण', 'जीवन-प्रभात,' 'जीवन-संध्या'। इनमें क्रम से अकबर, शाहजहाँ, औरंगजेब और जहाँगीर-कालीन घटनाओं पर उपन्यास की भित्ति खड़ी की गई है।

बंगला-नाटक और नाट्यशाला : प्राचीन नाटकीय तत्त्व

बंगला-नाटकों का उद्भव और विकास तो उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर २०वीं सदी तक हुआ है, किन्तु पुरानी कृतियों में पहले से ही नाटकीय तत्त्वों का थोड़ा-बहुत आभास मिलता है। बारहवीं सदी के चर्या-पदों में नाटकीयता की बू-बास मिलती है। एक स्थान पर 'बुद्ध नाटक' की चर्चा मिलती है :

नाचन्ति बाजिल गाअन्ति देवी।
बुद्ध नाटक विषमा होइ।

नाटक को विषमा सम्भवतः इसलिए कहा गया क्योंकि साधारण नियम पुरुषों के गाने और स्त्रियों के नाचने का है—यहाँ उलटा है कि स्त्री ही गाती है। एक दूसरे चर्या-पद में है :

एक सो पदुमा चौषट्ठि पाखुड़ि।
तहिं चढ़ि नाचय डोंबि बापुड़ी॥

यानी एक पदुम की चौंसठ पंखुड़ियों पर डोमिन नाच रही है। कहीं-कहीं 'नटपेटिका' का भी उल्लेख आया है। इन पदों के मूलतः आध्यात्मिक अर्थ हैं, पर उनमें नृत्य-गीति की परिचिति का पता चलता है। गीत-नृत्य से नाटक का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुतों ने तो 'नृत्' धातु से ही नाटक का

सम्बन्ध भी जोड़ा है। उससे नृत्त और नृत्य—दो शब्द बनते हैं; पहले का अर्थ होता है ताल-लय के सहारे अंग-विक्षेप और दूसरे का हाव-भाव सहित अंग-विन्यास यानी अभिनय।

कृष्ण-कीर्त्तन में नाटकीयता

पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के कृष्ण-कीर्त्तन-पदों में कथोपकथन का रूप भी देखने को मिलता है। बड़ू चंडीदास के 'कृष्ण-कीर्त्तन' के यमुना-खण्ड में ऐसा अंश है। यमुना के घाट पर राधा घट भरने गई है, अकेले में कृष्ण मिलते हैं। दोनों में बातें होती हैं। वह सारा अंश ऐसा लिखा है कि केवल पात्रों का नाम जोड़ देने से कथोपकथन ही हो सकता है। जैसे :

काहार बहु तों काहार रानी।
केन्हें यमुनात तोलसि पानी॥
बड़ार बहु मो बड़ार झि
आम्हें पानि तुलि तो तोम्हार कि॥
काखेर कलस नाम्बाओ तोम्हे।
कथा चारि-पाँचि कहिब आम्हे॥
जार कान्धे बोसे दोसर माथा।
सेहि आम्हा समे कहिबे कथा॥

गद्य में इसे रूपान्तरित कर दिया जाय, तो वह इस प्रकार होगा—

कृष्ण—तुम किसकी बहू हो, किसकी रानी। क्यों यमुना से भरती हो पानी।

राधा—मैं बड़े की बहू हूँ, बड़े की बेटी। पानी भरती हूँ तो तुम्हारा क्या?

कृष्ण—अपनी कमर से गगरी उतारो—चार-पाँच बातें तुमसे करूँगा।

राधा—गरदन पर जिसके दो सिर होंगे, वही मुझसे बात करेगा।

चैतन्य-अभिनीत 'रुक्मिणी-हरण'

चैतन्य महाप्रभु के समय और उनके बाद चरित-गाथाओं में नाट्य-तथ्य

का समावेश है। उस समय नाट्य-गीतों का प्रचलन था। दो-तीन या इससे भी अधिक पात्र-पात्री हाव-भाव दिखाकर कथोपकथन द्वारा किसी घटना का प्रदर्शन करते थे। अवश्य, वह कथोपकथन पद्य में ही होता था। ऐसा पता चलता है कि स्वयं चैतन्य प्रभु ने 'रुक्मिणी हरण' के अभिनय में भाग लिया था और वे खुद रुक्मिणी बने थे। श्रीवास, हरिदास, गदाधर आदि अन्य कई लोग उसमें शामिल हुए थे :

प्रथमे प्रविष्ट हैला प्रभु हरिदास।
महा दुइ गोंफ कटि वदन विलास॥
महापाग शिरे शोभे धरि परिधान।
देखिया सभार हैल विस्मय-गेयान॥

ऐसा बाना बनाकर हरिदास आये कि लोग-बाग दंग रह गए।

झूमर और यात्रा

ऐसे पांचाली गीतों ने धीरे-धीरे झूमर का रूप लिया और झूमर ने यात्रा का। यात्रा का बहुत संस्कृत रूप तो बंगाल में आज भी प्रचलित है। इस यात्रा का नाटक से सिर्फ इतना ही अन्तर है कि इसका स्टेज नहीं होता, पर्दा-दृश्य नहीं होता। मजमे में थोड़ी-सी जगह घेरकर लोग खुले ही में पूरे नाटक का प्रदर्शन करते हैं। किन्तु पुरानी यात्रा की परिपाटी इससे जुदी थी। उसका थोड़ा-सा परिचय भारतचन्द्र के चंडी नाटक में मिलता है। गीतों की ही प्रधानता होती थी। एक होता था मूल गायक और उसका अनुकरण करने वाले अन्य बहुत-से लोग होते थे। साथ-साथ नृत्याभिनय चलता था। इस तरह ऐसे अभिनय को 'पाला' कहते थे, जिसमें मूल गायक ही वास्तव में 'नट' होता है और नृत्यकार गायिका 'नटी' होती थी।

नाट और नाट-मंदिर

पिछले दिनों के सब मंगल-काव्यकारों ने अपने काव्यों को नाट भी कहा है और जहाँ वह गीताभिनय होता था, उस स्थान को नाट-मंदिर।

रामायण, कृष्ण-लीला-कीर्तन की उन दिनों की ग्राम-गोष्ठियाँ ही रंगमंच का अविकसित रूप थीं। किन्तु फिर भी अगर उन्हींको आधुनिक नाटक और रंगशाला का जननी-जनक कहें, तो शायद सही नहीं होगा। नाटकों के विकास में सबसे ज़्यादा हाथ रंगमंच-प्रतिष्ठा का रहा है। हिन्दी का नाट्य-साहित्य जो आज आशानुरूप विकसित नहीं है, उसका एक जबरदस्त कारण अच्छे रंगमंच का अभाव है।

रंगशाला

बंगला में आज एक नहीं, अनेक समृद्ध रंगमंच हैं, जिनमें एक-से-एक अभिनय-शिल्पियों का सहयोग है और इसीलिए नाटककारों में नाटक-विकास की तत्परता है। बंगला-रंगशाला का इतिहास बड़ा लम्बा और दिलचस्प है।

हेरासिम लेवेडफ का रंगमंच

अठारहवीं सदी के अन्त की ओर लोगों की नाट्य-पिपासा को रुचि के अनुरूप खुराक नहीं मिल रही थी। यात्रा की पुरानी पद्धति से लोग अब ऊब-से उठे थे। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार से नाट्य-वृत्ति में नई जिज्ञासा जागी थी। ऐसे समय एक रूसी—हेरासिम लेवेडफ—कलकत्ता आये और डूमतला (आज का एजरा स्ट्रीट) में उन्होंने एक रंगमंच कायम किया। सन् १७९५ और ९६ में उन्होंने दो नाटक अभिनीत किये—'दि डिसगाइस' और 'लव इज़ द बेस्ट डॉक्टर' का अनुवाद। उसके बाद वे नाट्यशाला बन्द करके विलायत चले गए—जहाँ उन्होंने एक हिन्दुस्तानी व्याकरण लिखा। उसकी भूमिका में उस नाट्यशाला के बारे में थोड़ा-बहुत परिचय है। उन्होंने उपर्युक्त दो पुस्तकों को ही क्यों चुना, इस पर लिखा है : **भारतीय भाषा और साहित्य-विषयक गवेषणा के बाद मैंने 'डिस-गाइस' और 'लव इज़ द बेस्ट डॉक्टर' का अनुवाद किया। मैंने गौर करके देखा, यहाँ के लोग उपदेशमूलक कथाओं से, चाहे वे कितने ही अच्छे ढंग से क्यों न प्रकाशित हों, नकल और हास-परिहास को ज़्यादा**

पसन्द करते थे। इसलिए मैंने चौकीदार, चोर, वकील, गुमाश्ते इत्यादि चरित्रों से भरे इन दो नाटकों को ही चुना।'

बंगालियों का निजस्व रङ्गमञ्च

इसके कोई चालीस साल बाद बंगालियों का अपना रङ्गमञ्च प्रतिष्ठित हो सका। किन्तु निजस्व नाटक-साहित्य का जन्म तब भी नहीं हो सका। १८३१ ई० में प्रसन्नकुमार ठाकुर की नाट्यशाला में जो दो नाटक अभिनीत हुए—दोनों ही अंग्रेजी के अनुवाद थे, एक तो शेक्सपियर का 'जूलियस सीज़र' और दूसरा विल्सन-कृत भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद। शेक्सपियर के नाटकों ने ही प्राथमिक दिनों में बंगाल को विशेष रूप से अनुप्रेरित किया, ऐसा पता चलता है।

विविध रङ्गमञ्च और अनुवादित नाटक

१८३५ में श्याम बाज़ार के नवीनचन्द्र बसु की नाट्यशाला में 'विद्यासुन्दर' नाटक के बजाय, बाद में वर्षों तक शेक्सपियर के नाटकों की ही धूम रही। डेविड हेयर एकेडेमी (१८५१ में प्रतिष्ठित) ने १८५३ में शेक्सपियर का 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' खेला। ओरियण्टल सेमिनरी विद्यालय ने ओरियण्टल थियेटर की स्थापना की थी। उसमें १८५३ में 'ओथेलो', १८५४ में 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस', १८५५ में 'चतुर्थ हेनरी' का अभिनय किया। प्यारीमोहन बसु के जोड़ा-साँको-थियेटर में भी शेक्सपियर का 'जूलियस सीजर' ही खेला गया था। वास्तव में नाटक की प्राथमिक चेष्टाएँ अंग्रेजी और संस्कृत के ही आधार पर हुईं। नन्दकुमार राय का 'अभिज्ञान शकुन्तला', रामचन्द्र तर्कालंकार का 'कौतुक सर्वस्व', नीलमणि पाल का 'रत्नावली'—सब-के-सब संस्कृत के अनुवाद थे। बंगला के मौलिक नाटकों का अभाव-सा ही था।

प्रथम मौलिक नाटक

योगेन्द्रचन्द्र गुप्त का 'कीर्त्ति विलास', ताराचरण शिकदार का 'भद्रार्जुन' और हरचन्द्र घोष का 'भानुमती विलास'—इन तीन नाटकों में पहले-पहल

थोड़ी-बहुत मौलिकता के निदर्शन मिले, गो कि तीनों या तो आख्या-यिकाओं या विदेशी कथा-वस्तु पर ही बने हैं

वियोगान्त नाटक

'कीर्त्ति विलास' प्राचीन पद्धति के विरुद्ध वियोगान्त नाटक है। जिसकी कैफ़ियत लेखक ने भूमिका में दी है। नाटक में पाँच अंक थे और प्रस्तावना संस्कृत-नाटकों-जैसी थी। 'भद्रार्जुन' में भी विषय-वस्तु की मौलिकता नहीं है, पर टेकनिक में नयेपन का समावेश किया गया है। नाटक से नान्दीमुख, प्रस्तावना और विदूषक को दूर कर दिया गया हैं। पद्धति में संस्कृत और अंग्रेजी कौशल का सामञ्जस्य है। गद्य से पद्य की मात्रा नाटक में ज़्यादा है। 'भानुमती विलास' तो 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' का ही अनुवाद है। घोष महाशय के और भी कई नाटक हैं, 'चारुमुख चित्त हरा' और 'रजत गिरिनन्दिनी' भी अंग्रेजी के ही अनुवाद हैं। कालीप्रसन्नसिंह ने भी कई नाटक लिखे—'बाबू नाटक', 'विक्रमोर्वशी', 'मालती माधव'। ये भी अनुवाद ही थे।

रामनारायण तर्करत्न

नाटककारों में उस समय रामनारायण तर्करत्न एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने बहुत-से विषयों को नाटक का आधार बनाया। उन्होंने पौराणिक कहानी, रोमाण्टिक कहानी, सामाजिक कहानी, सबको नाट्य-वस्तु बनाकर रचना की। 'शकुन्तला', 'रत्नावली', 'मालती माधव' का अनुवाद भी किया। नाट्य-कला की कसौटी पर उनका मूल्य-महत्त्व चाहे ज़्यादा न हो, पर वही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने समाज-संस्कार को नाट्य का उद्देश्य बनाया। ऐसे उनके दो नाटक हैं—'कुलीन कुल सर्वस्व' और 'नवनाटक'। पहले में कौलीन्य-प्रथा का दोष दिखाते हुए कुछ कौतुकपूर्ण दृश्य हैं—दूसरे में बहु विवाह पर प्रकाश है। 'कुलीन कुल सर्वस्व' कई बार खेला गया। 'नवनाटक' जोड़ा-साँको-नाट्यशाला के लिए लिखा गया था, जिसकी प्रतिष्ठा गुणेन्द्र ठाकुर, ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति ने की थी।

तत्कालीन नाटकों की कथा-वस्तु

बहु विवाह पर एक नाटक लिखने के लिए उपर्युक्त नाट्यशाला ने पहले 'इण्डियन डेली न्यूज़' में एक विज्ञापन देकर पुरस्कार की घोषणा की थी। बाद में वह नाटक लिखने का भार रामनारायण तर्करत्न को सौंपा गया। उन्हें पुरस्कृत करने के लिए 'आलालेर घरेर दुलाल' के लेखक टेकचाँद ठाकुर उर्फ प्यारीचाँद मित्र की अध्यक्षता में एक समारोह-सभा भी बुलाई गई थी।

सामाजिक समस्या

उस नाटक से ऐसा प्रभाव पड़ा कि थोड़े ही अरसे में समाज-संस्कार की दृष्टि से लिखे गए नाटकों की बाढ़-सी आ गई। केवल विधवा-विवाह-विषयक नाटक ही दर्जनों तैयार हो गए। उमेशचन्द्र मित्र का 'विधवा विवाह', उमाचरण चट्टोपाध्याय का 'विधवोद्वाह', राधामाधव मित्र का 'विधवा मनोरञ्जन', सैमुअल पीर बख्श का 'विधवा विरह' आदि-आदि।

नाट्यशालाओं की बाढ़

इन नाटकों में कलात्मकता की बड़ी कमी थी। किन्तु इस बाढ़ से नाटक के प्रति रुझान का स्पष्ट पता चलता है। जगह-जगह रङ्गशालाएँ धड़ल्ले से खुलने लगीं और नाटकाभिनय होने लगे। यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने कवि मधुसूदनदत्त को एक पत्र में लिखा था : **आज दिन देश में नाट्यशालाएँ बरसाती मेंढ़क की तरह बढ़ती जा रही हैं। दुःख है, इनकी आयु बड़ी थोड़ी होती है, फिर भी इन्हें हम सुलक्षण में ही गिनेंगे, क्योंकि इनसे यह पता चलता है कि हम लोगों में नाटकों की रुचि बढ़ रही है।**

नाटक और माइकेल मधुसूदन

तत्कालीन पुस्तकों में नाटकीयता के गुणों की कमी देखकर ही मधुसूदनदत्त-जैसे समर्थ कवि नाटक लिखने की ओर झुके। रामनारायण तर्करत्न के नाटक पर उन्होंने दुःख से लिखा था :

अलीक कुनाट्ये रंगे मरे लोक राढ़े बंगे
निरखिया प्राणे नाहिं सय ।

यानी अलीक और बुरे नाटकों के रङ्ग पर राढ़-बंग के लोग मर रहे हैं, यह सहा नहीं जाता ।

मधुसूदन ने चार नाटक लिखे—'शर्मिष्ठा', 'पद्मावती', 'कृष्णकुमारी' और 'माया कानन' । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन नाटकों से विषय-वस्तु, रचना-कौशल, भाषा, घटना और संगति की दिशा में बहुत-कुछ नयेपन का संचार हुआ । ये नाटक अनेक बार भिन्न-भिन्न रङ्गमञ्च पर अभिनीत और प्रशंसित हुए । इनके नाटकों की सामग्री महाभारत, ग्रीक उपाख्यान और राजपूती कहानी से तैयार हुई है । 'पद्मावती' में रोमाण्टिक प्रभाव है । इन सबमें 'कृष्णकुमारी' नाटक उत्कृष्ट है, जिसने परवर्ती अनेक नाटककारों पर अपनी छाप छोड़ी है । मधुसूदन ने दो प्रहसन भी लिखे—'एकेइ की बले सभ्यता' और 'बूड़ो सालिकेर घाड़े रों' । प्रहसन कहने को बंगला में यही दो प्रथम हैं । बाद में इनकी देखा-देखी प्रहसनों की रचना बहुतों ने की, किन्तु उनकी बराबरी नहीं हो सकी ।

दीनबन्धु मित्र के नाटक

कला की दृष्टि से तो नहीं, पर एक नई प्रेरणा का सञ्चार करने के कारण दीनबन्धु मित्र का नाम भी नाटककारों में उल्लेखनीय है । दीनबन्धु के बहुत-से नाटक हैं—'नवीन तपस्विनी', 'बिये पागला बुड़ो', 'सधवार-एकादशी', 'नील दर्पण' आदि । 'नील दर्पण' को छोड़कर बाकी सब लगभग प्रहसन हैं और मधुसूदन के प्रहसन से निम्न स्तर के । नाट्य-कौशल की दृष्टि से बल्कि 'सधवा की एकादशी' बहुत-कुछ अच्छी बन पड़ी है । उनका उल्लेख-योग्य नाटक तो 'नील दर्पण' ही है । उसमें निलहे साहबों के अत्याचारों से पीड़ित तत्कालीन कृषक-समाज का जीवन्त चित्र है । इसमें वास्तविकता और लेखक की सहृदयता से एक खास आकर्षण है, नहीं तो घटना, भाषा आदि के लिहाज से नाटक में वैसा दम नहीं है ।

अन्य यशस्वी नाटककार

बाद के क्षमताशाली नाटककारों में मनोमोहन बसु, हरलाल राय, ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर, गिरीशचन्द्र घोष, क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद, अमृतलाल बसु और द्विजेन्द्रलाल राय हैं। मनोमोहन बसु का कृतित्व पौराणिक नाटकों द्वारा भक्ति का सञ्चार है। पूर्ववर्ती कई लेखकों ने पौराणिक नाटकों की रचना की थी, पर भक्ति के अभाव से ही उन्हें वह सफलता नहीं मिली। इनके नाटक हैं—'रामाभिषेक नाटक', 'प्रणय-परीक्षा', 'सती नाटक', 'हरिश्चन्द्र नाटक', 'पार्थ-पराजय', 'रासलीला', 'आनन्दमय नाटक'। बाद के दो यशस्वी नाटककार गिरीशचन्द्र घोष और क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद पौराणिकता में इन्हींसे अनुप्राणित हुए। देश-प्रेम की ध्वनि मनोमोहन के नाटकों की अपनी विशेषता है।

नेशनल थियेटर और नाटकों में युगान्तर

सन् १८७३ में बंगाल में नेशनल थियेटर नाम की नाट्यशाला के प्रतिष्ठित होने से नाट्य-साहित्य में भी युगान्तर उपस्थित हुआ। इसीके आस-पास दो और रङ्गमञ्च प्रतिष्ठित हुए—ओरियण्टल थियेटर तथा बंगाल थियेटर। देश में कांग्रेस के आन्दोलन से जातीय जीवन में एक नई लहर आई थी। बंगाल में जोड़ासाँको के ठाकुर-परिवार में नवीन विचारों का एक परिपक्व केन्द्र भी कायम हो गया था। अतः इससे पूर्व की नाट्य-साधना, जो पौराणिक उपाख्यान, विधवा-विवाह-बहु विवाह आदि समाज-संस्कार; निलहे-धनी जमींदारों के अत्याचार या संस्कृत-अंग्रेजी के अनुवाद पर ही केन्द्रित थी, यहाँ आकर एक सर्वथा नई दिशा में मुड़ गई। हरलाल में पुराना प्रभाव ही ज़्यादा रहा—इस नई चेतना का थोड़ा-सा आभास आ पाया। उनके नाटकों में 'हेमलता', 'शत्रु संहार', 'बंगेर सुखावसाने', 'रुद्रपाल', 'कनकपद्म' आदि मुख्य हैं और अभिनय में बड़े लोकप्रिय हुए। अन्तिम दो तो 'हैमलेट' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के अनुवाद हैं। ज्योतिरीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुछ तो प्रहसन लिखे, कुछ फ्रांसीसी व्यंग्य

नाटककार मौलियर की किताबों का अनुवाद किया और कुछ मौलिक नाटक भी लिखे। प्रहसनों में 'अलीक बाबू' और 'हिते विपरीत' प्रधान हैं : अनुवादों में मुख्य हैं—'हठात् नवाब' और 'दाये पोड़े दारग्रह'। और उनके मौलिक नाटक हैं—'पुरु विक्रम', 'चित्तौड़-आक्रमण', 'अश्रुमती' और 'स्वप्नमयी'।

ज्योतिरीन्द्र के नाटकों में तीन बातें मुख्यतया पाई जाती हैं—देशानुराग की भावना, ऐतिहासिक घटनाओं से भारतीय महिमा का प्रतिपादन और नारी-चरित्र का निखार। प्रथम दो नाटकों में भारत पर विदेशी आक्रमण के आधार पर उनके शासन के प्रति असन्तोष और जातीय जागरण की चेतना का उन्मेष है। इनके कई नाटकों में रवीन्द्र-रचित कविता और गीत लिये गए हैं। खेलने की दृष्टि से इनके नाटक विशेष सफल रहे। असल में उस समय तक नाट्य-दर्शकों की रुचि काफी परिमार्जित हो गई थी और केवल अनुवादित नाटकों से उन्हें सन्तोष नहीं हो रहा था। शेक्सपियर के नाटकों का धड़ल्ले से अनुवाद होता रहा। संस्कृत के नाटक भी रूपान्तरित होकर आये; समाज-संस्कारक भावना से उद्‌भूत कुछ ऐसे भी नाटक आये, जिनमें थोड़ी-बहुत मौलिकता का आभास था। परन्तु जन-रुचि को जो चाहिए था, तत्कालीन नाटकों में उसकी निहायत कमी थी। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम कई दशकों में बंगाल में नाट्य-प्रदर्शन का ज़ोर बहुत बढ़ा, किन्तु नाटकों में जिस कल्पना और रस-दृष्टि की खोज दर्शकों को थी, उसका बंगला-नाटकों में नितान्त अभाव था। मनोरंजन के नाम पर निकृष्ट और भोंड़े हास्य की अवतारणा ही होती थी। लिहाजा नाट्य-गृह-परिचालकों ने तत्कालीन काव्यों और उपन्यासों को नाट्य-रूप देकर खेलना शुरू किया था। और वैसे नाटक रंगमंच पर बड़े सफल हुए। माइकेल मधुसूदन की 'मेघनाद वध', कवि हेमचन्द्र का 'वृत्र संहार', ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का 'सीता वनवास', बंकिमचन्द्र का 'दुर्गेश नन्दिनी' और 'कपाल कुण्डला', नवीनचन्द्र सेन का 'प्लासी का युद्ध' आदि अनेक पुस्तकें नाटक बनाकर खेली गईं।

नाट्यकार गिरीशचन्द्र घोष

बंगला के कृती नाटककारों में सबसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं—गिरीशचन्द्र घोष, अमृतलाल बसु और द्विजेन्द्रलाल राय। प्रथम दो तो नाट्यकार और नट दोनों ही थे और बंगला-रंगमंच को अपनी कला से उन्होंने काफ़ी उन्नत बनाया। गिरीशचन्द्र ने अनेकों नाटक लिखे, जिनमें से कुछ तो पौराणिक नाटक हैं और कुछ गीति-नाट्य। 'सीता वनवास', 'रावण-वध', 'सीता-हरण', 'अभिमन्यु-वध', 'मोहिनी प्रतिमा', 'मलिन-माला', 'पाण्डवों का अज्ञात वास', 'चैतन्य-लीला', 'बुद्धदेव-चरित', 'जना', 'प्रफुल्ल', 'बिल्व-मंगल ठाकुर', 'बलिदान' आदि इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। गिरीशचन्द्र ने भारतीय जातीय जीवन की इस लोकप्रिय प्रवृत्ति को भली भाँति समझा था कि यहाँ के लोग पौराणिक आदर्श चरित्रों को खूब चाहते हैं। इसीलिए पौराणिक चरित्रों को उन्होंने चुना ज़रूर, किन्तु उन्हें निजस्व आदर्श के अनुरूप उपस्थित किया। उनके नाटकों का मूल सुर वास्तव में भक्ति और करुणा है। जीवन की अभिज्ञता की गहराई उनमें नहीं थी, पारिपार्श्विक भी संकीर्ण था, साथ ही धर्मनिष्ठा की संकुचितता भी थी। इसीलिए ८० से अधिक नाटक लिखकर और सैकड़ों चरित्रों की सृष्टि करके भी वे उच्चकोटि की कला नहीं दे सके। पागल, गँजेड़ी, शराबी-जैसे अनेक चरित्र उनके नाटकों की एक विशेषता है।

अमृतलाल बसु

अमृतलाल बसु जैसे यशस्वी नाटककार थे, उतने ही सफल अभिनेता भी थे। उनके नाटक आम तौर से छोटे होते थे, सरल और हास्य रस का पुट उनमें विशेष रूप से होता था। सामयिक घटनाओं तथा वैयक्तिक तथा सामाजिक कमजोरियों पर उन्होंने जो रचनाएँ की हैं, वे बड़ी रसमयी हो उठी हैं। उनके प्रहसनों में 'विवाह-विभ्राट्', 'एकाकार', ग्राम्य-विभ्राट्', 'बाबू', 'अवतार' आदि सुन्दर बन पड़े हैं। 'हीरक चूर्ण' ना— एक सामयिक घटना है, जिसमें गायकवाड़ मल्हारराव के निर्वा

को आधार बनाया गया है। उन पर अभियोग था कि उन्होंने जहर देकर रेज़िडेंट फेराटा को मार डालने की कोशिश की थी। इस घटना ने देश में काफ़ी उथल-पुथल मचाई थी।

द्विजेन्द्रलाल राय

नाट्यकारों में द्विजेन्द्रलाल राय बड़े मशहूर हुए और उनके नाटक भी बड़े लोकप्रिय हुए। रंगमंच पर उनका बार-बार अभिनय होता रहा और आज भी वे चाव से खेले जाते हैं। किन्तु सच पूछिये तो नाट्य-कला की दृष्टि से उन नाटकों में काफ़ी दोष हैं। चरित्रों का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है, कथानक में प्रवाह नहीं है, देश-काल-पात्र का सामञ्जस्य नहीं रह पाया और कथनोपकथन में बड़ी कृत्रिमता है। इस सब-कुछ के बावजूद उनको जो इतनी प्रसिद्धि मिली, उसका एक कारण उनकी काव्य-कुशलता है। उनके हँसी के गान और देश-भक्ति के गीत बड़े प्रसिद्ध हैं और वास्तव में उनमें दक्ष काव्य-प्रतिभा की झलक मिलती है। बंगला-छन्द और गीत की सुर-योजना की अभिनवता उन गीतों की विशेषता है। उस सुर-योजना में देशी और विलायती स्वर-सामञ्जस्य की खासी कुशलता ने बंगला में एक नई भावानुभूति का समावेश किया है।

उनके गीत

माइकेल मधुसूदन ने जैसे विदेशी साहित्यिक आदर्श को आत्मसात् करके सम्पूर्णतया निजस्व ढंग से बंगला-कविता को एक नया रूप और नई चेतना दी थी, द्विजेन्द्रलाल राय ने ठीक वैसे ही विजातीय सुर को अपनी चेतना का अंगीभूत बनाकर बंगला-छन्द और गीतों में उतारा था। इस प्रकार हम उन्हें वाणी-शिल्पी के बजाय एक कुशल सुर-शिल्पी कहें, तो अत्युक्ति न होगी। बंगीय साहित्य-परिषद् के उद्घाटन के अवसर पर उनका प्रसिद्ध गीत—**'आजि गो तोमार चरणे जननी आनिया अर्घ्य करि मा दान'** गाया गया था। बंगला के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र 'भारतवर्ष' की स्थापना आपने ही की थी, किन्तु उसका पहला अंक निकलने के पहले ही

आपकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। उसीके पहले अंक के लिए आपने अपना यह प्रसिद्ध गीत लिखा था : **ये दिन सुनील जलधि हहते उठिले जननी भारतवर्ष**। ऐसे उनके अनेक गीत लोक-मुख में आज भी प्रचलित हैं, जिनमें देश-भक्ति की भावना कूट-कूटकर भरी है। उनकी लिखी नाट्य-कृतियों में मुख्य हैं—'पाषाणी', 'सीता', 'प्रतापसिंह', 'दुर्गादास', 'मेवाड़-पतन', 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ', 'चन्द्रगुप्त', 'सिंहल-विजय', 'परपारे।'

क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद

उस समय के एक और कृती नाटककार हैं—क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद। जिस पौराणिक आधार पर गिरीशचन्द्र ने नाटकों की भित्ति रखी थी, उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए भी अपने को इन्होंने उस प्रभाव से भरसक मुक्त रखा। पौराणिक चरित्रों की अवतारणा उन्होंने अवश्य की, किन्तु उन चरित्रों को उन्होंने अपने बुद्धि-विवेक से नये साँचे में ढाला। रवीन्द्रनाथ की नाट्य-पद्धति का थोड़ा-बहुत प्रभाव उनमें दीखता है। उनके प्रमुख नाटकों में 'रघुवीर', 'नर-नारायण' और 'भीष्म' हैं।

इस युग की काव्य धारा

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक पुरानी काव्य-परम्परा की कई धाराएँ अवि-च्छिन्न रूप से बहती चली आ रही थीं। जैसे वैष्णव पदावली, पौराणिक कविता और लोक-कथा-काव्य।

बैठकी गीत, तरजा, कवि-गान

भारतचन्द्र के 'अन्नदा मंगल' की रीति और रामप्रसाद के गीतों से जो गीतात्मकता का प्रभाव फैला, उससे बैठकी गीत, तरजा और कवि-गान का प्रचलन खूब बढ़ा।

देशात्म बोध

उसीमें समयानुसार देशात्म बोध की भावना घुलने-मिलने लगी और समाज-संस्कार का आदर्श भी मिलने लगा। सांवादिक ईश्वरचन्द्र गुप्त की चर्चा हम कर चुके हैं—भावों की इस सन्धि-वेला के वे ही समर्थ कवि

हुए। उन्हें हम पुरानी परिपाटी का अन्तिम और नई चेतना का प्रथम कवि कह सकते हैं। इनके गीतों में वह गहराई तो नहीं पाई जाती, बहुत हद तक उनमें ग्राम्य-दोष भी है। व्यंग्य और हास्य का पुट अधिक है और प्रचार-कामना से बहुत बार वह व्यंग्य नाटक के विदूषक के समान निम्न स्तर तक उतर गया है। रचनाएँ बड़ी हल्की हैं, मगर उनमें अपने समाज और अपने देश के प्रति जो प्रेम की भावना गूँजी, उसने लोगों को अपनी ओर धड़ल्ले से आकर्षित किया और अनेक शब्द-शिल्पियों ने उसी पथ का अनुसरण किया। उनकी शिष्य-परम्परा भी बड़ी लम्बी रही। रंगलाल, दीनबन्धु मित्र, कृष्णचन्द्र आदि उसी परम्परा के कवि हुए।

वैष्णव-काव्य का प्रभाव

वैष्णव-पदों की परम्परा तो उन्नीसवीं सदी के अन्त तक चलती रही। विदेशी भाव-धारा के आकर्षण से सर्वथा नई साहित्य-पद्धति के समर्थ स्रष्टाओं तक को उस वेदी पर फल-फूल चढ़ाने पड़े। वैष्णव-कविता की भाषा छन्द और रस-लोक में आनन्द-आकर्षण की एक ऐसी मन्त्र-शक्ति रही कि नवीन भावावेश वालों के हृदय में भी उसका आलोड़न अजेय रहा। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम छोर में जो अंग्रेजी शिक्षित वाणी के साधक बंगला-साहित्य के युग-निर्माता रहे, उन्होंने भी वैष्णव-काव्य की रचना की। ऐसे नवीनता के उपासकों में बंकिमचन्द्र, माइकेल मधुसूदनदत्त और रवीन्द्रनाथ रहे। अवश्य वैष्णव-पदों का जो मूल प्राण-धर्म था, वह इन कविताओं में नहीं रहा। पाश्चात्य भाव-धारा के संस्पर्श में आकर शिक्षित सम्प्रदाय ने चूँकि जीवन और धर्म को चेतना के नये आलोक में देखना शुरू किया, इसलिए जिसे हम प्रकृत वैष्णवी वासना कह सकते हैं, वह चीज़ तो इनकी साधना में नहीं रह सकी। जीवन, मन, तथा मन की विभिन्न वासनाओं को लोग इस गहराई से देखने लगे कि मनुष्यत्व उनके आगे महनीय हो उठा और देवत्व की महिमा मुरझा गई। अतः वैष्णव-पदों का आधारभूत जो कृष्ण-राधा का प्रेम रहा, वह नर-नारी के प्रेम की निविड़ता में रूपान्तरित हो गया। उसमें जो आध्यात्मिकता थी, उसकी जगह

साधारण नर-नारी के प्रेम-वैचित्र्य ने ले ली।

लौकिक प्रेम

जिस कवि-गान की चर्चा हमने पहले की है, उन गीतों में लौकिक प्रेम की ही बे-रोक बाढ़ आई है। जिस देश में पहले यह सोचा जाता था कि कान्हा के बिना गीत ही सम्भव नहीं, वहीं लोक-प्रेम ने मानव-कण्ठ को प्रबल वाणी दी और बंकिम तथा रवीन्द्र तक जब वह धारा बह आई तो उसमें प्राणों की उस कल-कल ध्वनि की रक्षा नहीं हो सकी। ऐसा होना सम्भव भी नहीं, न ही स्वाभाविक था। क्योंकि किसी रीति-पद्धति का अनुकरण कर लेने से ही वह भाव-परम्परा और प्राण-धर्म भी सुरक्षित रहेगा, यह सम्भव न था। अनुकरण के साथ आत्मा की निश्छल तन्मयता या भाव-योग न हो तो उसकी कृत्रिमता स्पष्ट है। उदाहरण के तौर पर काव्यगत बौद्धिक सहानुभूति की निरर्थक निर्जीवता देखी जा सकती है। महलों में रहकर दूर किसी गाँव के भुखमरों की वेदना या ग्राम-गीतों के प्रेम को व्यक्त कर सकना सम्भव तो है, परन्तु उन गीतों में प्राण की सजीव मार्मिकता नहीं लाई जा सकती। इन वैष्णव-गीतों में भी रीति-रूप तो है, प्राणों का वह स्वरूप नहीं पाया जाता। फलस्वरूप इस परम्परा की ऐसी कविताओं को पिछली वैष्णव-कविता की श्रेणी में किसी भी प्रकार नहीं रखा जा सकता।

बंकिम के वैष्णव पद

बंकिमचन्द्र ने अपने कुछ उपन्यासों में पात्रों द्वारा वैष्णव-गीत का गान कराया है। 'विष वृक्ष' में छद्म वेशधारी वैष्णवी तथा 'मृणालिनी' की गिरिजाया नाम की भिखारिन बंकिम-रचित वैष्णव-पद गाती हैं। किन्तु उनमें उस शैली के सिवाय वैष्णवता की वह बू नहीं मिलती। इसमें कृष्ण चरित्र की पिछली विशेषता पर मनुष्यत्व का आदर्श ही स्थापित हुआ है। बंकिमचन्द्र ने अपने उपन्यासों में नायक-नायिका के प्रेम-संघटन के लिए ही ऐसे पदों का विशेषतया उपयोग किया है। मिसाल के तौर पर :

शुनलु श्रवण पथे मधुर बाजे,
राधे राधे राधे राधे विपिन माझे।
जब शुनन् लागि सइ, सो मधुर बोलि
जीवन ना गेलो ?
धायनु पिय सइ, सोहि उपकूले
लुटाइनु काँदि सइ श्याम पदमूले
सोहि पदमूले रई, काहे लो हामारि
मरण ना भेलो।

अर्थात् राधे-राधे की रट कानन में अपने कानों से सुनी। लेकिन जब सुनती रही, तो यह प्राण क्यों न निकल भागा ? सखि, मैं उस उपकूल तक पिया के पास पहुँची, उन श्याम चरणों में लोटकर रोई, किन्तु उन्हीं चरणों में मरण क्यों नहीं हुआ ?

मधुसूदन का वैष्णव-काव्य

किन्तु सबसे बढ़कर ताज्जुब की बात है कि जो माइकेल मधुसूदनदत्त एड़ी से चोटी तक पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता के पारावार में डूबे थे, जिन्होंने पाश्चात्य ट्रेजिडी के अनुकरण पर 'मेघनाद वध' लिखा उन्होंने 'ब्रजांगना' में वैष्णव-काव्य की साधना कैसे की।

तुलनात्मक विचार

किन्तु उनके काव्य से इतना तो स्पष्ट ही हो उठता है कि 'ब्रजाङ्गना' की राधा वास्तव में मिसेज़ राधा हैं। वैष्णवता का चोला पहनाकर केवल पश्चिमीय प्रेम-गीत को बंगला में उतारा गया है। वैष्णव-कवियों की राधा पूर्वराग, अनुराग, मानाभिमान के बाद विरह की वेदना पर पहुँचती है, और वह विदग्धता भी ऐसी होती है कि प्राणों की गहरी वेदना कण्ठ से शब्दों में फूट नहीं पाती। किन्तु मधुसूदन की राधा शुरू से ही विरह की मारी है और उसका विरह बे-तरह बोलता है। इसका नतीजा यह हुआ है कि मन की मार्मिक पीड़ा के बजाय फूत्कार ही ज़्यादा मुखर हो आया है। उसमें प्रेम

की विह्वलता नहीं है—युक्ति, तर्क और रीति-नीति की चौकसी है। किन्तु सब-कुछ के बावजूद काव्य में कवित्व-शक्ति की निपुणता का परिचय है। स्वरूप-चिन्तन के आदर्श की भिन्नता को छोड़कर सृष्टि-कुशलता में आँच नहीं आई है। जगह-जगह वर्णन बड़े सुन्दर और स्वाभाविक हैं। जैसे, विरह-विह्वला राधा को सजाने के लिए सखियाँ फूल तोड़ लाई हैं। राधा कहती हैं, आखिर इतने फूल क्यों तोड़ लाई। मेघ से घिर जाने पर क्या रात तारों की माला पहनती है ?

केनो एतो फूल तुलिलि सजनि
भरिया डाला;
मेघावृत होले परे कि रजनी
तारार माला ?

पिंजरे की मैना-जैसी अन्तर में राधा के तड़पन है। जहाँ वनमाली है, वहीं उड़ जाने की उतावली प्राणों में है। कहती है :

देह छाड़ि जाइ चलि येथा वनमाली;
लागुक कुलेर मुखे कलंकेर काली।

कहीं-कहीं हृदय की अनुभूति और सहज विश्वास का भी सुन्दर चित्र मिलता है। जैसे, राधा कहती है, चलो, तमाल के नीचे चलें। जब वसन्त आन पहुँचा है, तो माधव भी ज़रूर आयँगे :

मुछिया नयन जल-चल लो सकले चल
शुनिबो तमाल तले वेणुर सुरव।
आइल वसन्त यदि आसिबे माधव॥

रवीन्द्र का वैष्णव-साहित्य

यद्यपि रवीन्द्र की वैष्णव-धर्म पर कभी आस्था नहीं रही थी, फिर भी उन्होंने तरुण अवस्था में 'ठाकुर भानुसिंह की पदावली' लिखी। यह उनका छद्मनाम था। वैष्णव-साहित्य को कवि ने कोई मौलिक या विशेष दान दिया, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु वैष्णव-साहित्य से उन्होंने बहुत-

कुछ पाया। उनकी परिणत अवस्था की अनेक रचनाओं पर, जो सचमुच ही श्रेष्ठ हैं, वैष्णव-साहित्य की स्पष्ट छाप है। बंगला के छन्द को रवीन्द्र की बड़ी देन है और उस नवीन छन्द-योजना में उन्हें वैष्णव-साहित्य से बड़ी प्रेरणा मिली। बंगला के प्राचीन छन्दों में पयार और त्रिपदी की ही बहुलता रही थी, रवीन्द्रनाथ ने उन्हीं छन्दों में वैचित्र्य से एक अभिनवता का समावेश किया। जैसे, गोविन्ददास का यह छन्द :

शरद् चन्द पवन मन्द
विपिने भरल कुसुम गंध
फुल्ल मल्लिका मालति युथि
मत्त मधुकर भोरणि।

रवीन्द्रनाथ ने इस तरह उतारा :

अंगे चारु नील वास
हृदये प्रणय कुसुम राश
हरिण नेत्रे विमल हास
कुञ्जवने जे आव लो।

जयदेव के निम्न छन्द ने कवीन्द्र को बहुत प्रभावित किया :

पतति पतत्रे विचलित पत्रे
शंकित भवदुपयानम्;
रचयति शयनम् सचकित नयनम्
पश्यति तव पन्थानम्।

उनके अनेक पद इसी अनुकरण पर बने। जैसे :

नील आकाशे तारका भासे
यमुना गावत गान;
पादप मरमर, निर्झर झर-झर
कुसुमित बल्लि वितान।

वैष्णव-कवियों के इस छन्द-वैचित्र्य, भाषा-सौष्ठव और रस-माधुरी ने तरुण रवीन्द्र के प्राणों को झकझोर दिया था और रूपगत अनुकरण तो

उन्होंने सहज ही कर लिया था, किन्तु वह रसानुभूति उनमें गहराई तक नहीं उतर सकी। 'गीताञ्जलि' आदि की बाद की कविताओं में रस की परिपक्वता का निखार देखने को मिलता है।

भानुसिंह की पदावली

'भानुसिंह की पदावली' के पदों में भावों के बजाय रूप-रचना है; ध्वनि नहीं, प्रतिध्वनि है। फिर भी कहीं-कहीं खासी मार्मिकता और रस-माधुर्य है। जैसे, राधा दुःख से कहती है :

इथि छिल आकुल गोप नयन जल
कथि छिल ओ तव हासि।
इथि छिल नीरव वंशी वट तट
कथि छिल ओ तव बाँशि। आदि।

मधुसूदन और नवयुग की सूचना

मधुसूदन दत्त की प्रतिभा से बंगला-काव्य में एक नये युग की सूचना हुई। इनकी कविता में देशी-विदेशी भावों का एक अपूर्व समन्वय मिलता है। बंगला-भाषा के लालित्य और स्वर-बहुलता के कारण उसमें ओज-पूर्ण कविता की रचना सम्भव नहीं थी। कवि मधुसूदन का ध्यान इस पर गया। उन्होंने भाषा की इस ओजहीनता को दूर करने के लिए संस्कृत के शब्द-चयन और नामधातु की सृष्टि की।

नया छन्द-निर्माण

जिस पयार छन्द का पहले प्रचलन था, वह भी ओज-प्रकाश के अनुकूल नहीं पड़ता था। इसमें आठवें और चौदहवें वर्ण पर यति होती है और अन्तिम यति में तुक का मेल होता है। इस बन्धन में ओज-विकासी संस्कृत-शब्दों का प्रयोग बहुलता से नहीं किया जा सकता था, न हो अन्तिम तुक को मिलाने की बाधा से यह सम्भव था कि भावों का निर्वाह किया जा सके। मधुसूदन ने ये सारी बाधाएँ दूर हटाकर बंगला में वीर-रस के महाकाव्य की सफल रचना की। पयार में उन्होंने विषम पद का प्रवर्त्तन किया।

वर्ण-मात्रा वही रही, अन्त के तुक का मेल उन्होंने हटा दिया और आठवें अक्षर पर यति हो ही, इस अनिवार्यता की बाधा भी दूर हटा दी। उनके इस अमित्राक्षर से काव्य-रचना में एक नई राह निकली और बाद के अनेक यशस्वी कवियों ने इसका अनुसरण किया। मधुसूदन ने इस छन्द में सबसे पहला काव्य 'तिलोत्तमा सम्भव' लिखा, उसके बाद इसमें उनके प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाद वध' और 'वीरांगना' लिखे गए।

अंग्रेजी प्रभाव

इसमें सन्देह नहीं कि वे विदेशी भावों से बे-तरह प्रभावित थे, किन्तु उनकी रचनाओं में निजस्वता की कहीं कमी नहीं है। छात्र-जीवन में वे बड़े मेधावी रहे थे और उनके बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी। उस समय अंग्रेजी भाषा और साहित्य का प्रताप देशी मस्तिष्क में बड़ा रौब जमा रहा था। उसीके चक्कर में मधुसूदन की भी आस्था धर्म, भाषा और अपने समाज से उठ गई। वे ईसाई हो गए। पहले एक स्कॉट औरत से उन्होंने शादी की, फिर उसे तलाक देकर एक फ्रांसीसी महिला से विवाह किया। अंग्रेजी साहित्य का मोह उन्हें इस बुरी तरह हो गया था कि शुरू-शुरू में उन्होंने अंग्रेजी में ही रचना आरम्भ की तथा 'कैप्टिव लेडी', और 'विज़न्स ऑव दि पास्ट' लिखा। जब इसमें ज्यादा आगे बढ़ने की गुञ्जाइश उन्हें नहीं दिखाई दी, तो फिर मातृभाषा की ओर लौटे। विदेशी साहित्य के उस प्रभाव का बहुत बड़ा लाभ उन्होंने बंगला-साहित्य को दिया। सानेट-चतुर्दश पदी—जातीय कविता बंगला में उन्होंने ही शुरू की।

भारतीय आदर्श

विदेश भी वे गये थे और वहाँ वर्षों रहे। इस सबके बावजूद उनकी अन्तरात्मा में भारतीयता के लिए नये सिरे से गाढ़ा प्रेम उपज आया था। भारत की सीता और राधा ने उनके हृदय में ऊँचा स्थान बना लिया था। काशीराम और कृत्तिवास के काव्य उन्हें प्रिय हो उटे थे। वर्साइ में जब उन्होंने 'चतुर्दश पदी' की रचना की, तो ये ही काव्य और यही चरित्र

उनके मन-मस्तिष्क में विराज रहे थे। अपनी महाकाव्य-रचना में उन्हें रामायण की कथा ने ही अनुप्राणित किया। राधा के लिए उनकी क्या धारणा थी, यह उनके द्वारा राजनारायण बसु को लिखे गए एक पत्र से पता चलता है :

"आइ थिंक यू आर रादर को लु टुआर्ड्स दि पूअर लेडी ऑफ व्रज। पुअर मैन ! ह्वेन यू सिट् डाउन टु रीड पोइट्री लीव एसाइड ऑल रिलीजस बायस। बिसाइड्स, मिसेज राधा इज़ नॉट सच ए बैड वोमैन आफ़्टर आल। इफ शी हैड ए 'बार्ड' लाइक योर हम्बुल सर्वेंट फ्रॉम दि बिगिनिंग, शी वुड हैव बीन ए वेरी डिफरेंट कैरेक्टर। इट इज़ दि वाइल इमेजिनेशन दि पोएट स्टर्स दैट हैज़ पेण्टेड हर इन सच कलर्स।"—यानी, मेरा ख़याल है, व्रज की बेचारी राधा पर तुम कुछ विरूप हो, लेकिन जब काव्य-पाठ को बैठो, तो मन से धार्मिक पक्षपात को दूर हटा दिया करो। फिर ऐसी भी बात नहीं कि राधा वास्तव में वैसी बुरी रहीं अगर तुम्हारे इस सेवक-जैसा शुरू से ही उन्हें एक चारण मिल गया होता तो उनका चरित्र और ही कुछ होता। उनके चरित्र को यह रंग कवियों की जघन्य कल्पनाओं ने ही दिया है।

और इसीलिए 'ब्रजांगना' में उन्होंने राधा को अपने ढंग से चित्रित किया।

चतुर्दशपदी या सानेट

अमित्राक्षर छन्द में मधुसूदन के काव्य केवल लोकप्रिय ही नहीं हुए, बल्कि उनसे काव्य-रचना की एक नई दिशा भी उद्घाटित हुई। किन्तु उन बड़े काव्यों से कहीं अधिक रस-निविड़ता उनकी चतुर्दशपदियों (सानेट) में है। चतुर्दशपदी के आदि-कवि इटली के कवि पेट्रार्क हैं। इनमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं—पहली आठ पंक्तियों में रसमय वक्तव्य और बाद की छः पंक्तियों में उसीका मार्मिक संक्षिप्त विस्तार रहता है। इस छोटे दायरे में वक्तव्य का मार्मिक प्रकाश सानेट की अपनी विशेषता है और इसका सफल निर्वाह बड़ी रसज्ञता चाहता है।

गीति-कविता

अपने भावमुखर उन गीतों में मधुसूदन की वह रसज्ञता झलकती है। काव्यों में जैसे उनके मन के एकान्त कोने रूप नहीं पा सके थे और भावों में गीतमुखर हो उठने की एक बेताबी थी। एक पत्र में उन्होंने उपर्युक्त वसु महोदय को लिखा था : **"बट आइ सपोज़, आइ मस्ट बिड् एड्यु टु हिरोइक पोइट्री आफ़्टर 'मेघनाद्'। ए फ्रेश एटेम्प्ट वुड बि समथिंग लाइक ए रिपिटीशन। बट देयर इज़ दि वाइट फील्ड ऑफ रोमैण्टिक एण्ड लिरिक पोइट्री बिफोर मी एण्ड आइ थिंक आइ हैव ए टेंडेंसी इन् द लिरिकल वे।"** अर्थात्, मेरा ऐसा ख़याल है कि 'मेघनाद्' के बाद मुझे वीर रस की कविताओं को विदाई देनी पड़ेगी। इसी तरह की कोई दूसरी कोशिश पुनरुक्ति ही होगी। मुझे अपने आगे रोमांटिक और गीति-कविताओं का विस्तृत क्षेत्र दिखाई पड़ता है और मुझे लगता है, मुझमें उसकी अभिरुचि है।

और सचमुच ही गीति-कविताओं में उन्होंने कृतित्व का परिचय दिया। उन कविताओं में उनके एक गोपन मन का सहज परिचय मिल जाता है। देश, जाति, श्रद्धेय व्यक्ति एवं अपने नदी-पर्वत-प्रान्तर के प्रति अकपट प्रेम उन कविताओं में प्रस्फुटित हुआ है।

उदय और अस्त

माइकेल में अद्भुत प्रतिभा थी और प्रतिभा का वैविध्य अद्भुत था—किन्तु प्रतिभा के अनुरूप उन्हें सफलता नहीं मिली। इसके कारण कई हैं, पर प्रमुख कारण यही है कि उन्हें प्रतिभा के स्वरूप-प्रकाश का उपयुक्त अवसर नहीं मिला और अपनी प्रतिभा को चीन्हकर उसके प्रति सजग होने का मौका भी उनके हाथ नहीं आया। यही कारण है कि उनकी प्रतिभा ने अपनी अनुपम सृजन-शक्ति का तो भरपूर परिचय दिया, पर उसे इसकी पहचान शायद नहीं रही कि उसका यथार्थ कर्त्तव्य कौन-सा था। इसलिए जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है, बंगला-साहित्य में एक धूमकेतु की तरह उदित होकर धूमकेतु के समान ही वे सहसा अन्तर्धान हो गए।

मधुसूदन के अनुयायी

मधुसूदन ने बंगला-साहित्य को नया जन्म दिया और अच्छी-अच्छी प्रतिभाओं को नये रूप से अनुप्राणित किया। उनके अनुकरण पर रचनाएँ तो बहुतों ने कीं, पर हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र सेन ही किसी हद तक उस लीक पर चल सके। विषय-वस्तु के निर्वाचन और छन्दों की सुगठित योजना में हेमचन्द्र ने अच्छा कृतित्व दिखाया है, जो कि तुकहीन पयार और पयार-त्रिपदी में ही उन्होंने काव्य रचे। हेमचन्द्र की रचनाएँ कई हैं—'चिन्ता तरंगिणी', 'वीरबाहु', 'वृत्र संहार', 'दश महाविद्या' आदि उनमें से प्रमुख हैं। 'वृत्र संहार' सबमें सुन्दर बन पड़ा है। इसे 'मेघनाद वध' का लगभग अनुकरण ही कहना चाहिए। पात्रादि का निर्वाचन और चरित्र-चित्रण तक ठीक उसी ढंग पर किया गया है, जैसा कि 'मेघनाद वध' में है। 'टेम्पेस्ट' और 'रोमियो जूलियट' के आधार पर इन्होंने दो नाटक भी लिखे थे। 'छायामयी' नाम की रचना उन्होंने 'डिवाइन कॉमेडी' के अनुसार की है, इसलिए उसमें विविध नरकों का ही वर्णन है।

नवीनचन्द्र सेन

नवीनचन्द्र सेन उन्हींके समसामयिक कवि थे। 'पलासी का युद्ध', 'रैवतक', 'कुरुक्षेत्र', 'प्रभास', 'आकाशरंजिनी' आदि उनकी प्रधान रचनाएँ हैं, जिनमें 'पलासी का युद्ध' बड़ा प्रसिद्ध हुआ है। कुरुक्षेत्र-युद्ध और कृष्ण-चरित्र की कवि ने एक सर्वथा नई कल्पना की है। आर्य-अनार्य के संघर्ष और दोनों का मेल—यही उनके कुरुक्षेत्र का विषय है। नवीनचन्द्र के काव्य में जहाँ-तहाँ चमत्कार का सुन्दर समावेश है।

गीत-कवि बिहारीलाल

बंगला-साहित्य के सर्वप्रथम और श्रेष्ठ कवि बिहारीलाल हैं। रवीन्द्र उनकी कविताओं से बहुत अनुप्रेरित हुए थे और उनका यह ऋण उन्होंने स्वीकार किया था। कई लेखों में इस बात की उन्होंने चर्चा की है; जैसे, वर्तमान समालोचक (रवीन्द्र) ने कभी 'बंग सुन्दरी' और 'शारदा मंगल' के

कवि (बिहारीलाल) से काव्य-शिक्षा की चेष्टा की थी, इसमें वह कहाँ तक कामयाब हुआ है, नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह स्थायी शिक्षा हृदय में गड़ गई है कि भाषा-सौष्ठव काव्य-सौन्दर्य का एक प्रधान अङ्ग है। छन्द और भाषा की ढिलाई कविता के लिए घातक होती है ।

सौन्दर्य के गायक

बिहारीलाल वास्तव में सौन्दर्य के कवि थे। उनका 'शारदा मंगल' सौंदर्य-साधना की अपूर्व कृति है। इसमें श्री के अर्चन की एक नई ही पद्धति हमें देखने को मिलती है। 'जननी', 'नन्दिनी', 'प्रणयिनी' प्रत्येक रूप में उन्होंने शारदा की कल्पना की है और 'दास्य', 'वात्सल्य' आदि अनेक भावों में उनकी उपासना। इन कविताओं में रूप और गीतिमत्ता एकाकार हैं। भाषा में सौन्दर्य, माधुर्य और प्रवाह का सुन्दर समावेश। छोटी-छोटी पंक्तियों में सादगी है, किन्तु जोर है। जैसे :

प्राणेर भेतर थेके के येन आमारे डाके,
भूलिवार नय, तबू भूले येन गेछि काके।

मेरे प्राणों के भीतर से मानो कोई मुझे पुकारता है। लगता है वह भूलने योग्य नहीं, फिर भी किसे तो मैं भूल गया हूँ।

आनन्द की मूर्ति

कवि को चारों ओर सौन्दर्य का अनन्त प्रकाश दिखाई पड़ता है और उस प्रकाश में आनन्द की एक अक्षय मूर्ति विराजती है :

अहो ! विश्व परकाशि ।
उदार सौन्दर्य-राशि ।
जले स्थले आकाशे सदाइ विराजित;
ये दिके फिरिया चाइ
सौन्दर्ये डुबिना जाइ
अत्युल्लासकरी, अयि,
परम आनन्दमयी ।
तुमि माँ, कांति रूपे सर्वभूते विभाषित।

अर्थात् विश्व को प्रकाशित करके उदार सौन्दर्य-राशि जल, स्थल, आकाश में विराजित है। जिधर आँखें दौड़ाता हूँ, सौन्दर्य में डूब जाता हूँ। अत्यन्त उल्लास से भर देने वाली, आनन्दमयी, तुम कौन हो जो सभी भूतों पर कान्ति बनकर विहँसती हो।

उनकी दृष्टि में नारी

इस सौन्दर्य, आनन्द और प्रेम का एक समन्वित स्वरूप उन्होंने नारी में देखा था। कवि ने लिखा, तुम्हारी मूर्ति धरकर मेरे घर यह कौन आया है। तुम कौन हो, जिसने यह नारी का रूप लिया है? चीन्हते हुए भी नहीं चीन्ह पाता, तुम्हारे उदार लावण्य से सारा संसार भरा है। यह विश्व की ज्योति और कुछ नहीं तुम हो, हृदय-कमल पर तुम सरस्वती-जैसी विराजमान हो। प्रेयसि, तुम्हें प्रेम, स्नेह और भक्ति से भरा मैं देखता हूँ :

तोमार मूरति धोरे
के एसे छे मोर घरे ?
के तुमि सेजे छो नारी ?
चिनेओ चिनिते नारि,
उदार लावण्य तव
भरिया रोये छे भव
तुमिइ विश्वेर ज्योति
हृद्‌पद्मे सरस्वती
प्रेम स्नेह भक्ति भावे देखि अनिवार
प्रेयसी आमार।

रवीन्द्र की भूमिका

गीत का जो अश्रान्त स्रोत पीछे रवीन्द्रनाथ की सृष्टि से प्रभावित हुआ, कह सकते हैं, बिहारीलाल में उसीकी भूमिका थी। एक आलोचक ने लिखा है : **अंग्रेजी साहित्य में पोप के आविर्भाव से जो एक पेशेवर भाव बँधता चला आ रहा था, क्रैप और कॉपर के आविर्भाव से उसका खण्डन**

हुआ। उसके बाद उसके खण्डन में शेली, कीट्स, बाइरन, वर्ड्सवर्थ ने तो हद ही कर दी। मेरा खयाल है, बंगला-साहित्य में बिहारीलाल का आविर्भाव बहुत-कुछ वैसा ही है।

बिहारीलाल ध्यान और गान के कवि थे। अपनी धुन और अपनी लगन में प्रचार-प्रसार से दूर उन्होंने साहित्य में सौन्दर्य और प्रेम के अनोखे गीत गाये, किन्तु अचरज है कि ऐसे कवि की साहित्य में कभी धूम नहीं मची। गीति-कविता के उस अश्रान्त और एकान्त गायक की वैसी शुहरत नहीं हुई, जिसने रवीन्द्र-जैसी प्रतिभा के महल के लिए नींव का काम किया। उन्हें गुरु के रूप में मानने वाले रवीन्द्र ने उन्हें 'सुबह का पंछी' कहा है। अपना गीत खुद गाकर वह चला गया, उस झुटपुटे में सोते-जागते की अलसाई दशा में किसी ने सुना, किसी ने नहीं। कवि अक्षयकुमार ने, जो उस गीत-धर्मी कविता से प्रेरित हुए थे, ठीक ही कहा है :

एसे छिलो शुधु गाइते प्रभाती
ना फुटिते उषा, ना पोहाते राती
आँधारे आलोके प्रेमे मोहे गाँथि
कुहरिले धीरे-धीरे।
धूम घोरे प्राणी, भावि स्वप्न वाणी
धुमाइल पार्श्व फिरे।

यानी वह सिर्फ प्रभाती गाने आया था। जब उषा ठीक से खिल नहीं पाई, रात पूरी बीती नहीं, उस ज्योति-अँधेरे की सन्धि में वह प्रेम-मोह को गूँथकर प्रभाती गा गया। निंदियारे लोगों ने समझा कि यह स्वप्न की वाणी है और वे करवट बदलकर सो गए।

रवीन्द्रनाथ

गीति-कविता और रोमाण्टिकता की उसी पृष्ठभूमि पर जिस कालजयी प्रतिभा ने दर्शन दिये, वह थी रवीन्द्रनाथ की। ऐसी बहुमुखी, वैविध्यमयी और समर्थ प्रतिभा सदियों में किसी देश को वरदान-रूप में मिलती है। वह एक ऐसी प्रतिभा थी, जिसमें साहित्य की सभी दिशाएँ एकीभूत हो गई

थीं। साहित्य का ऐसा कोई अंग नहीं था, जिस पर उन्होंने अपनी कुशलता की मुहर न लगा दी हो।

जीवन और कीर्त्ति

उनके बारे में तो उन्हींके शब्दों में कहा जा सकता है कि अपनी कीर्ति से तुम कहीं महत् हो, इसीलिए तुम्हारे जीवन का रथ बार-बार तुम्हारी कीर्त्ति को पीछे छोड़ जाता है :

तोमार कीर्त्तिर चे ये तुमि ये महत्
ताइ तव जीवनेर रथ
पश्चाते फेलिया जाय कीर्त्तिरे तोमार
बारम्बार।

विराट् व्यक्तित्व

यह उसी प्रतिभा का दम था कि एक प्रान्तीय भाषा की साहित्य-साधना को विश्व-साहित्य के श्रेष्ठ आसन पर आसीन करा दिया। उसकी उदार विस्तृति सहज में शब्दों में नहीं आँकी जा सकती। एक बार उन्होंने ठीक ही कहा था, क्या तुम यह समझते हो कि तुमने मेरा आदि-अन्त पा लिया है? शुरू से आखिर तक खत्म करके मुझे पढ़ी हुई पोथी-सा फेंक दिया है। नहीं, इतने प्राण-गान मुझमें हैं कि अन्त पा सकना सम्भव नहीं :

तुमि कि कोरेछो मने
जेने छो पेचे छो तुमि आदि अन्त मम।
फेलिया दिया छो मोरे
आदि अन्त शेष कोरे
पड़ा पुन्थि सम?

काव्य-रचना की रूपरेखा

साहित्य के उस प्रकाण्ड व्यक्तित्व का परिचय बहुत-कुछ हो सकता है, पर उनका असली परिचय तो कवि-परिचय ही है। काव्य में उन्होंने वैचित्र्य की ऐसी रंगीनी भर दी है कि उसमें न केवल एक युग की सारी प्रवृत्तियाँ,

सारी शैलियाँ समाहित हो गई हैं, बल्कि उसमें युगातीत भी रूपमय हो उठा है।

प्रमुख प्रवृत्तियाँ

उनके काव्य की मुख्यतया तीन दिशाएँ हैं—प्रकृति, प्रेम और आध्यात्मिकता। ठीक इसी तरह रचनाओं की तीन प्रवृत्तियाँ हैं—अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी। उनकी पहली कविता 'वन फूल' से लेकर 'छवि-ओ गान' तक की रचनाओं में हम स्पष्ट रूप से यह देख सकते हैं कि भावों की उद्दामता अनुकूल भाषा की खोज में आतुर है। फलस्वरूप जो आन्तरिक आवेग प्रकाश-विह्वल थे, वे अस्पष्ट और कुण्ठित रह गए हैं। 'कड़ि ओ कोमल' से 'खेया' तक की रचनाएँ बहिर्मुखी प्रवृत्ति की द्योतिका हैं। आँखों के आगे जो धुँधलका था, वह कट गया है और जीवन तथा जगत् के संघर्षों के अन्तराल में जो सौन्दर्य और आनन्द की लक्ष्मी मृदु-मधुर मुस्कराती है, उसे अन्तर्दृष्टि देख सकी है और उसकी उपयुक्त प्रतिष्ठा के अनुकूल वाहन जैसे कवि को मिल गया है। शुरू में ही कवि कहते हैं, मैं समझ रहा हूँ कि मेरे निशा-स्वप्न का नशा जाता रहा है, जो माला थी, उसके फूल बिखर गए हैं और धागा रह गया है :

बुझेछि आमार निशार स्वपन होये छे भोर।
मालाखानि छिलो फूल गुलि गेछे रोये छे डोर॥

जगत् और जीवन को आस्था

'खेया' के बाद से कवि की प्रवृत्ति ऊर्ध्वमुखी हो गई है और उनमें आध्यात्मिकता का स्पष्ट और गाढ़ा रंग चढ़ता गया है। किन्तु उसे ऊर्ध्व-मुखी कहने से कहीं यह भ्रम न हो कि परकाल की चिन्ता कवि को बुरी तरह पा बैठी और वे जगत् से ऊपर के लोक की चिन्ता में निमग्न हो गए। रवीन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि वे जीवन और जगत् से कभी विमुख नहीं हुए। उनका एक प्रसिद्ध गीत है :

मोरिते चाहिना आमि सुन्दर भुवने,
मानवेर माझे आमि बाँचि बारे चाइ।

जिस परम सत्ता के लिए उनके चित में आकुलता थी, उसे उन्होंने सृष्टि के सुख-दुःख में ही व्याप्त देखा है। 'नैवेद्य', 'गीताञ्जलि,' 'बलाका' आदि की अगणित कविताओं में विभिन्न रूप से यह ध्वनि मुखरित है। उन्होंने मनुष्य और माटी की धरती को कभी छोटा नहीं देखा, न देवता और स्वर्ग को इनसे कभी बड़ा देखा। वे धरती और मानव के गर्व-गाथा-गायक रहे।

रवीन्द्र की काव्य-कृतियाँ इतनी हैं और सृष्टि के क्षितिज पर इतनी विभिन्न दिशाएँ आ मिली हैं कि कई-कई ग्रन्थों में उन तथ्यों और सत्यों की झाँकी सम्भव न होगी। अतएव कृतियों का नाम न गिनाकर उनके काव्य-व्यक्तित्व की कुछ खास विशेषताओं का परिचय देना ही अच्छा होगा।

रोमाण्टिक काव्य

रवीन्द्रनाथ को हम रोमाण्टिक कवि कह सकते हैं। रोमाण्टिकता की निश्चित-निर्दिष्ट व्याख्या कर सकना सम्भव नहीं। विचारकगण भी इसका कोई बुद्धिग्राह्य निर्देश नहीं दे सके हैं—इसलिए नाना मुनियों के नाना मत हैं। जहाँ तक मेरा खयाल है, प्रत्येक प्रकार के सौन्दर्य में एक अजाने विस्मय की प्रधानता होती है—उसी विस्मय का सौन्दर्य में योग रोमाण्टिकता है। इसीलिए इस कोटि की रचनाओं में एक धूपछाँही सुषमा होती है। ऐसे काव्य के प्रधान लक्षण तीन होते हैं, अतीन्द्रियता, सौन्दर्योपलब्धि और आनन्दोपभोग। रवीन्द्र की कविताओं में ये सारे-के-सारे गुण मौजूद हैं। अतीन्द्रियता के कारण लोगों ने उन्हें रहस्यवादी कवि भी कहा है। यह रहस्यवाद अपने यहाँ कोई नई चीज़ नहीं। उपनिषदों से लेकर आज तक जाने कितने रूपों में उसकी साधना होती रही है। उपनिषद्, सूफी कवि, कबीर, बंगाल के बाउल-संगीत से रवीन्द्रनाथ की खास रुचि थी और उन सबका एक अलक्षित प्रभाव उन पर पड़ा। इस वाद की विशेषता है अव्यक्त अनन्त जीवन से खण्ड मानव-जीवन के अस्पष्ट सम्बन्ध

का संकेत। अनन्त के सत्य, शिव और सुन्दर में से कवि सुन्दर के ही उपासक थे और सत्, चित्, आनन्द में आनन्द के प्रति आस्थावान्। यही कारण है कि उनकी कविता में चित्र, संगीत और भाव की समान रूप से अर्चना मिलती है।

रचनाओं को देखते हुए वे वस्तु-निरपेक्ष कवि थे। किन्तु इस कोटि की कवि-परम्परा में जहाँ लोगों ने भाव और रस के सहारे ही रस-बोध का परिचय दिया है, कवि के व्यक्ति को नेपथ्य में ही रखा है, वहाँ रवीन्द्र ने अपने को ही मुख्यता दी है। काव्य से कवि ही मुख्य हो उठे हैं।

गीतिमत्ता

दृष्टि की उदारता के कारण रवीन्द्रनाथ ने अपने को विदेशी प्रभाव से वञ्चित रखने की जान-बूझकर कभी कोई चेष्टा नहीं की, परन्तु अपनी चिन्ता-धारा पर उन्होंने आँच नहीं आने दी है। गीतिमत्ता उनका एक प्रधान गुण है और ससीम और असीम का मेल स्वभाव।

ससीम और असीम का मेल

'जीवन-स्मृति' में उन्होंने स्वयं कहा है, मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरी काव्य-रचनाओं की मुख्यतः एक ही दिशा है और उसका नाम दिया जा सकता है, ससीम में असीम के मिलन की साधना। यह उन्होंने सिर्फ कहा ही नहीं है, गद्य में, पद्य में, हजारों बार, हजारों तरह से इसे प्रकाश देने की कोशिश की है। 'गीताञ्जलि' में एक जगह वे कहते हैं :

सीमार माझे असीम तुमि
बाजाओ आपन सुर ;
आमार मध्ये तोमार लीला
ताइ एतो मधुर।

हे असीम, तुम सीमा में अपना सुर छेड़ा करते हो। इसीलिए मुझमें तुम्हारी लीला इतनी मधुर लगती है।

इनकी दूसरी प्रसिद्ध कविता में रूप और भाव की एकात्मता में इसी

ससीम और असीम के मिलन की बात कही गई है। धूप अपने को गन्ध में बिखेरने को लालायित है और गन्ध धूप में घुल-मिल जाना चाहती है। सुर छन्द में बँधने को आकुल है और छन्द सुर में बिखर-निखर जाने को। भाव रूप में स्वरूप पाना चाहता है, और रूप भाव में विस्तृति चाहता है। असीम ससीम के निविड़ संग का आकांक्षी है और ससीम असीम में खो जाना चाहता है :

धूप आपनारे मिलाइते चाहे गन्धे,
गन्ध से चाहे रूपेरे रहिते जुड़े।
सुर आपनारे धरा दिते चाहे छन्दे
छन्द फिरिया छूटे येते चाय सुरे।
भाव येते चाय रूपेर माझारे अंग
रूप येते चाय भावेर माझारे छाड़ा।
असीम से चाहे सीमार निविड़ संग
सीमा होते चाय असीमेर माझे हारा।

अन्य रोमाण्टिक कवियों से विशेषता

कवि ने इस द्वन्द्व की मीमांसा बहुत प्रकार से और अपने ढंग से की है। उन्होंने अतीन्द्रिय को इन्द्रिय-ग्राह्य परिवेश में भी लाकर इन्द्रियगोचर को अरूप-अतीन्द्रिय की सीमा में उन्नीत किया है। इससे विचित्र वर्ण-विन्यास में धूप-छाँह की अपूर्व शोभा प्रकट हुई है, उनका काव्य दर्शन हो उठा है, और दर्शन हो उठा है काव्य। इसी विशेषता के कारण गीतधर्मी रोमाण्टिक कवि होते हुए भी उनकी रोमाण्टिकता वह नहीं है, जो अंग्रेजी कविता से सीधे अपने यहाँ आई। अंग्रेजी के जितने भी श्रेष्ठ रोमाण्टिक कवि हैं, सबकी विशेषताएँ रवीन्द्र में आत्मसात् हैं। जैसे कीट्स की सौन्दर्य-चेतना, शेली की अतीन्द्रियता, वर्ड्सवर्थ की वस्तु-गत आनन्दोपलब्धि, कॉलरिज की अप्राकृतिक अनऐहिकता—ये सारी बातें रवीन्द्र-रचना में हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी बहुत-कुछ उनके काव्य-भण्डार में संचित है। उन्होंने अन्य रोमाण्टिक कवियों की तरह मानव-मन

पर प्रकृति के प्रभाव को ही केवल कुबूल नहीं किया, बल्कि आत्मचेतना और वेदना में उसे एकाकार भी कर दिया है। उनकी अनेक कविताओं में प्रकृति के प्रति यह निगूढ़ आत्मीयता सुन्दर रूप से व्यक्त हुई है।

उनकी कविता में जो वैभव विचित्रता का है, वह इतने संक्षेप में कहा नहीं जा सकता। मोटा-मोटी यही कहा जा सकता है कि ऐसा विषय शायद ही मिले, जिसे वे छोड़ गए हों।

गीत-साधना

काव्य पर विचार करते हुए उनकी काव्यगत संगीत-साधना की भी थोड़ी-सी चर्चा आवश्यक है, इसलिए कि संगीत को उन्होंने नये रूप में पुनरुज्जीवित किया है। आज आप पायँगे कि रवीन्द्र-संगीत की बंगाल में धूम-सी मच गई है और उसकी एक निजस्वता भी है। केवल गीत के लिए भी स्वतन्त्र रूप से उन्होंने गीत लिखे और काव्य में भी नये सिरे से संगीत-योजना की।

संगीत पर विदेशी प्रभाव

कई लोग इसे मात्र विदेशी प्रभाव कहते हैं। विदेशी प्रभाव को इन्कार करने की तो गुन्जाइश नहीं, किन्तु उसमें उनका अपनापन भी है। ठाकुर-परिवार में संगीत-चर्चा जीवन का अंग हो गई थी। केवल सत्रह साल की उम्र में जब रवीन्द्र विलायत गये, तो अंग्रेजी स्वर-योजना के आकर्षण से वे प्रभावित हुए। उस समय उनके कुछ अंग्रेजी गीत तो ज़बान पर लग गए थे। जैसे टॉम मूर की आइरिश मेलोडीज़ की पंक्तियाँ :

ओह्, दि हार्ट दैट हैज ट्रूली लव्ड, नेवर फॉरगेट्स
बट ऐज़ ट्रूली लव्स ऑन टु दि क्लोज़
ऐज़ दि सन् फ़्लावर टर्न्स टु हर गॉड ह्वेन ही सेट्स,
दि सेम लुक ऐज़ शी टर्न्ड ह्वेन ही रोज़ !

अथवा 'गुडबाइ स्वीटहर्ट' की पंक्तियाँ :

दि सन इज़ अप, दि लार्क इज़ सोरिंग
लाउड स्वेल्स दि सॉंग ऑव चैंटिक्लीयर,

दि ल्योटेट बाउंड्स ओवर अर्थ्स सॉफ़्ट फ़्लोरिंग
येट् आइ ऐम हेयर—ये…ट् आइ ऐम हेयर !

संगीत में शास्त्रीयता

किन्तु परवर्ती काल में अपनी अनेक गीति-नाटिकाओं और स्वतन्त्र गीतों में उन्होंने जो गीत-योजना की, रूप-माधुर्य और स्वर-सौष्ठव में उनमें कवीन्द्र के कृतित्व की निश्चय ही एक निजस्वता है। उनमें तान-ताल की परिपाटी का भी निर्वाह है और अस्थायी अन्तरा, सञ्चारी, आभोग आदि गान के अंगों का भी। 'वीथिका', 'गीतिमाल्य', 'गीत वितान', 'ऋतुरंग', 'वर्षा मंगल' आदि में उनकी गीति-विशेषता कूट-कूटकर भरी है। उन्होंने कहा है :

गानेर भीतर दिये यखन देखि भुवन खानि।
तखन तारे जानि आमि तखन तारे चिनि।

नाटिकाएँ

रवीन्द्रनाथ ने नाटिकाएँ और प्रहसन भी अपने ढंग के और अनेक लिखे हैं। किन्तु चूँकि उनका मानसिक गठन ही गीतधर्मी रहा, इसलिए स्वाभाविकतया नाट्यगत शास्त्रीय आदर्शों की उनमें रक्षा नहीं हो सकी है, बल्कि एक गीत-संवादमय नया सरस साहित्य ही उनके नाटक हो उठे हैं। उन नाटकों में विशेषता के अनुसार कुछ संगीत-नाट्य, नृत्य-नाट्य, तो कुछ कथा-नाट्य और काव्य-नाट्य हो उठे हैं। गीतों की प्रधानता ही विशेष प्रबल है और संगीतधर्मी उनका कवि-मन सबके ऊपर तिर आया है। 'जीवन-स्मृति' में उन्होंने स्वयं लिखा भी है—"वाल्मीकि-प्रतिभा और काल-मृगया-जैसे गानों के सूत्र में नाट्य की माला है, वैसे ही 'माया का खेल' नाट्य के सूत्र में गान की माला है। वे घटना-सूत्र के बजाय हृदय के आवेग पर ही अवलम्बित हैं। वास्तव में 'माया का खेल' की रचना के समय गीत-रस से ही मानस अभिषिक्त था।" 'चांडालिका', 'चित्रांगदा', 'नटीर पूजा' 'विसर्जन' आदि इसके उदाहरण हैं। किसी-किसी में तो काव्य-कथोपकथन

ही हैं, जैसे 'कर्ण-कुन्ती', 'गांधारी'। कुछ व्यंग्य-नाटिका भी हैं, जो संख्या में कम नहीं हैं।

रवीन्द्र-कथा-साहित्य

रवीन्द्रनाथ का पहला उपन्यास 'करुणा' है। इसके बाद 'बहू ठाकुरानी का हाट,' 'राजर्षि', 'चार अध्याय', 'आँख की किरकिरी', 'नौका डूबी', 'गोरा' आदि उपन्यास निकले। 'चतुरंग' और 'घरे-बाहरे' नाम के दो उपन्यासों में उन्होंने काव्य-भाषा का सबसे पहले व्यवहार किया। उपन्यास से कहीं अधिक कृतित्व उन्होंने छोटी कहानियों में दिखाया है। इसमें इन्होंने एक नई ही धारा बहाई। इनके पहले बंकिमचन्द्र और संजीवचन्द्र ने कहानियाँ लिखी जरूर थीं, पर उन्हें उस कोटि में नहीं रखा जा सकता, जिसे आज हम छोटी कहानियाँ कहते हैं। बंगला में इस धारा के प्रथम प्रवर्त्तक रवीन्द्रनाथ ही हैं।

वैविध्य का वैभव

निबन्ध, प्रबन्ध, यात्रा, आत्म-जीवनी, संस्मरण—यहाँ तक कि रवीन्द्र ने 'वर्ण-परिचय' लिखा। 'चित्र-संगीत' में भी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। 'गीतांञ्जलि' पर उन्हें संसार-प्रसिद्ध नोबुल-पुरस्कार मिला था। मरने तक वे साहित्य-साधना में अप्रतिहत शक्ति लेकर लगे रहे।

अक्षयकुमार

रवीन्द्र के समसामयिक गद्य-पद्य-लेखकों में कुछ प्रमुख लोग हैं—अक्षयकुमार बड़ाल, सत्येन्द्रनाथ दत्त, कामिनी राय, कालिदास राय, रजनीकान्त सेन, यतीन्द्र मोहन बागची, मोहितलाल मजूमदार, काज़ी नजरुल इस्लाम, प्रभातकुमार मुखोपाध्याय, रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी, राखालदास वन्द्योपाध्याय आदि। अक्षयकुमार का जन्म कलकत्ता में सन् १८६० में हुआ था। कहा जाता है कि वे भी रवीन्द्र की तरह कवि बिहारीलाल के शिष्य थे। उनकी कविताओं में भाव-प्रधानता है और वे शान्त-रस के कवि थे। 'प्रदीप' 'कनकांजलि', 'भूल', 'शङ्ख' आदि उनकी काव्य-कृतियाँ हैं।

सत्येन्द्रनाथ दत्त

सत्येन्द्रनाथ दत्त (१८८२-१६२२) शब्दों के कुशल मालाकार और नवीन छन्दों के दक्ष निर्माता थे। विदेशी भाव और भाषा की विशेषता को उन्होंने आत्मसात् करके बंगला-साहित्य को अपनी देन दी थी। उनकी रचनाएँ हैं—'सविता', 'सन्धिक्षण', 'वेणु और वीणा', 'फूलों की फसल,' 'कुहू और केका', 'तूलिका का लेखन', 'अभ्र-अबीर', 'विदाय-आरति' और 'अन्तिम समय के गान'।

कामिनी राय

श्रीमती कामिनी राय बाकरगंज जिले में सन् १८७८ में पैदा हुई थीं। बेथून कालेज से बी० ए० पास करके वे वहीं शिक्षिका भी बनी थीं। उनकी कई सुन्दर काव्य-कृतियाँ हैं—'आलो ओ छाया', 'माल्य और निर्माल्य, 'धूप और दीप', 'पौराणिकी', 'अशोक-संगीत'। 'अशोक-संगीत' उन्होंने अपने पुत्र अशोक की मृत्यु के बाद लिखा था।

कालिदास राय

कालिदास राय का जन्म वर्द्वान जिले के करवी नामक गाँव में सन् १८८६ ई० में हुआ था। आपकी कविता रवीन्द्र के शब्दों में बंगाल की मिट्टी की तरह ही स्निग्ध और श्यामल है। उनकी कविता-पुस्तकें हैं— 'बल्लरी', 'ऋतु मंगल', 'लाजांजलि', 'ब्रजवेणु', 'चित्रगीत गोबिन्द'।

रजनीकान्त सेन

रजनीकान्त सेन बंगला के गीतकारों में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। वे स्वयं सुकण्ठ गायक थे और लोग उन्हें कलकण्ठकोकिल कहते थे। उनके कई गीत तो लोगों की जबान पर रहते थे। जैसे:—**मायेर देवा मोटा कापड़ साथाय तुले ने रे भाइ**। यानी जननी के दिये मोटे कपड़े सिर पर उठा लो। 'वाणी', 'कल्याणी', 'अमृत', 'अभया', 'आनन्दमयी' ये इनकी रचनाएँ हैं। कैंसर से इनकी मृत्यु हुई थी और अन्तिम तीन रचनाएँ इन्होंने अस्पताल में ही लिखी थीं।

यतीन्द्रमोहन बागची

यतीन्द्रमोहन बागची गद्य और पद्य दोनों के मँजे हुए लेखक थे। 'मानसी' और 'यमुना' नामक पत्रों का भी सम्पादन इन्होंने किया था। 'पल्लीकथा', 'लेखा-रेखा', 'अपराजिता', 'जागरणी', 'बन्धु का गान' 'नीहारिका', 'पथ का साथी' आदि उनकी रचनाएँ हैं। 'केया फूल', 'अन्ध-बन्धु' आदि कविताएँ उनकी लोगों में बड़ी मशहूर हुईं।

मोहितलाल मजूमदार

मोहितलाल मजूमदार एक समर्थ समालोचक और श्रेष्ठ कवि थे। उनका जन्म कलकत्ता से कुछ ही दूर काँचरापाड़ा में हुआ था। कवि ईश्वरचन्द्र गुप्त का जन्म भी इसी गाँव में हुआ था और प्रसिद्ध श्यामासंगीतकार रामप्रसाद सेन इसीके पास के गाँव के थे। फलस्वरूप काव्य-प्रेरणा उन्हें उस आब-हवा से मिली। इनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं—'विस्मरणी', 'स्वप्न-पसारी', 'स्मर-गरल'। आधुनिक कवियों में इनका आदर का स्थान है। समालोचना में भी इन्होंने समान कृतित्व दिखाया है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—'साहित्य-जिज्ञासा' तथा 'साहित्य वितान'।

नजरुल इस्लाम

बंगाल के तरुण-मानस को भावावेग से झकझोर देने वाले समर्थ कवि काजी नजरुल इस्लाम का स्थान कवियों में बहुत ऊँचा है। ये पूर्व बंगाल के रहने वाले हैं। पिछले महायुद्ध में ये हवलदार होकर मेसोपोटामिया गये थे और देश लौटकर स्वदेश-प्रेम में दीक्षित हुए। उनकी कविताओं में ओज खूब है।

'तरुण' कविता

उनकी 'अग्नि-वीणा' की 'तरुण' कविता बड़ी ही प्रसिद्ध हुई। नव-युवकों को उसने बड़ा प्रेरित किया। उस कविता की कुछेक पंक्तियाँ :

बल वीर

आमि चिर उन्नत शिर

शिर नेहारि आमार नतशिर ओइ शिखर हिमाद्रिर।
बल महाविश्वेर महाकाश फाड़ि
चन्द्र सूर्य ग्रह तारा छाड़ि
भूलोक द्युलोक गोलोक भेदिया
खोदार आरस आसन छेदिया
उठियाछि आमि चिर उन्नत शिर।
आमि बन्धन हारा कुमारीर वेणी, तन्वि नयने वह्नि
षोड़शीर हृदि सरसिज प्रेम उद्दाम, आमिधन्यि!
आमि उन्मन मन उदासीर
आमि विधवार बुके क्रन्दन श्वास, हा हुताश आमि हुताशीर।

वीर, बोलो, हम चिर उन्नत सिर हैं। हमारे ऊँचे उठे मस्तक के आगे हिमालय का शिखर झुक गया है। कहो, इस महा विश्व के महाकाश को फाड़कर सभी लोकों को भेदकर, खुदा के आसन को छेदकर हमारा मस्तक ऊपर उठा है। हम कुमारी की खुली वेणी हैं, तरुण की नज़रों के शोले हैं, षोडशी के हृदय-सरोज के उद्दाम प्रेम हैं। हम धन्य हैं। हम उदास उन्मन मन हैं, विधवा की छाती के अश्रुहत श्वास और निराशों के निश्वास हैं।

उर्दू तर्ज-तरीके

गज़लों में नजरुल ने काफी रस-निविड़ता और शब्द-माधुर्य में दक्षता का परिचय दिया है। कई कविताओं में उर्दू के तर्ज-तरीके का भी समावेश उन्होंने बंगला में किया है। जैसे, उनकी 'मुस्तफा कमाल' वाली कविता :

ओइ छुटेछे पागली मायेर दामाल छेले कामाल भाइ,
असुर पुरे शोर उठे छे जोर से सामाल, सामाल भाइ,
कामाल तूने कामाल किया भाइ!

यानी, वह लो, पगली माँ के उद्दण्ड लड़के कमाल के कदम दौड़ पड़े हैं। असुरपुर से 'सँभलो-सँभलो' की आवाज़ उठ रही है। कमाल, तुमने कमाल कर दिया।

शोर, ज़ोर से, तूने, कमाल किया—ये प्रयोग देखने योग्य हैं।

प्रभातकुमार

प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने कहानी लिखने में काफी ख्याति कमाई। इनकी कहानियों में बंकिम का रोमांस और रवीन्द्र की रस-दृष्टि विचित्र रूप से घुल-मिल गई है। उनके प्रमुख गल्प-ग्रन्थ हैं—'नवकथा, 'षोडशी', 'देशी और विलायती' तथा 'गल्पाञ्जलि'। उपन्यास भी उन्होंने लिखा है, पर वैसी सफलता नहीं मिली।

विविध साहित्यकार

निबन्धों में रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी ने बहुत बड़ा काम किया और उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें लिखीं। प्रमथ चौधुरी ने 'बीरबल' के छद्म नाम से विरोधाभास लिखने में बड़ा कृतित्व दिखाया। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में पुरातत्त्वविद् राखालदास बन्द्योपाध्याय को बड़ा यश मिला। 'शशांक', 'धर्मपाल', 'करुणा' और 'मयूख' उनके उपन्यास हैं, जिनमें उन्होंने गुप्त, पाल और मुग़ल युग के जीवन-चित्र उपस्थित किये हैं। जलधर सेन ने भी करुण-रस की कुछ अच्छी कहानियाँ लिखीं।

शरच्चन्द्र

कथा-साहित्य में जो यश और लोकप्रियता शरच्चन्द्र को बंगला में मिली, वह औरों को क्या, रवीन्द्र तक को नहीं मिली। उनकी पहली कहानी 'मन्दिर' छद्म नाम से निकली थी और पुरस्कृत हुई थी। उसके बाद ही उनकी मशहूर कहानी 'बड़ी दीदी' निकली, जिससे उनका नाम फैल गया।

शरत् की नई दृष्टि

इस लोकप्रियता के पीछे उनकी नई दृष्टिभंगी ही मूलतया रही है। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा यह दिखाने की चेष्टा की कि समाज के आभ्यन्तर को देखने की दृष्टि हृदय-वृत्ति तथा सार्वभौम न्याय-समन्वित होनी चाहिए। इसी अन्तर्दृष्टि से उनके नारी-चरित्रों की सृष्टि हुई और लोगों की नज़रों में उस हृदयहीन निपीड़न के मार्मिक चित्र फूट उठे, जो कुसंस्कार-

ग्रस्त सामाजिक विधानों से बंगाल में नारी जाति पर होते थे। लोगों ने कुसंस्कार-शासित नारी-रूप की निस्सारता तथा कृत्रिमता समझी और उनका आन्तरिक उज्ज्वल रूप प्रकट हुआ। शरच्चन्द्र ने रवीन्द्रनाथ की तरह समस्याओं का समाधान देने का कहीं प्रयास नहीं किया है। एक कलाकार के समान उन्होंने समाज के अन्तर्प्रदेश में जहाँ काँटा चुभा है और जिस क्षत से पीड़ा टपकती है—इतना ही दिखाकर सन्तोष कर लिया है। इससे उनकी रचनाओं में एक खास तरह का आकर्षण हम पाते हैं। उनकी शैली बड़ी सरल है, किन्तु है बड़ी जोरदार। कभी-कभी बे-तरह चिकोटी काटते हैं। संयत तो इतना कि जितना कहना चाहिए, उससे फिजूल एक भी शब्द नहीं कहते। उसमें रोमांस और भावुकता को छेड़कर जगाने की अद्भुत शक्ति है।

नारी-जीवन के जादूगर

उनका अपना जीवन भी घटनाओं से भरा था और उस पर उन्होंने चार खण्डों में 'श्रीकान्त' लिखा। 'गृह दाह', 'पल्ली समाज', 'अरक्षणीया', 'परिणीता', 'चरित्रहीन', 'पथ के दावेदार', 'शेष प्रश्न', 'विप्रदास' आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। सबमें नारी-चरित्र की सृष्टि अपूर्व है। 'चरित्रहीन' की सावित्री, 'शेष प्रश्न' की कमल आदि से समाज की दृष्टि को उन्होंने नई नज़र देने की चेष्टा की है। ग्रामीण जीवन के लिए साहित्य में जैसे जादूगर प्रेमचन्द थे, नारी-चित्रों के वैसे ही जादूगर शरच्चन्द्र थे। उनकी रचनाओं में बंकिम और रवीन्द्र के प्रभाव के चिह्न हैं। चरित्रों में एकांगिता और पुनरावृत्ति की बू कभी-कभी आ जाती है—किन्तु उनकी सहानुभूति और आत्मीयता से उसमें जीवन है। रवीन्द्र और शरत् में यही अन्तर है। रवीन्द्र मुख्यतया कवि थे, रस-स्थापना के जादूगर थे। उनकी रचनाओं में आत्मिक सौन्दर्य-बोध की प्यास तो मिलती है, परन्तु दैनन्दिन जीवन की सीमा से वे ऊपर उठ जाते हैं। शरच्चन्द्र ने प्रात्यहिक जीवन-रस से अपने साहित्य की सृष्टि की है और अपने पात्रों के वे आत्मीय-से रहे हैं।

अव्यापक दृष्टि

सब-कुछ होते हुए भी उनकी दृष्टि की अव्यापकता के दोष से इन्कार नहीं किया जा सकता। उनकी आँखें अन्तर्भेदी और गहरी अवश्य रहीं, पर सुदूर-प्रसारी वैचित्र्य तक नहीं फैल सकीं।

: ७ :

रवीन्द्रोत्तर काल

रवीन्द्र-काल की अन्तःप्रवृत्ति

रवीन्द्र के साथ-साथ बंगला-साहित्य का एक युग समाप्त हो जाता है। उस युग के शिखर तक पहुँचने में सदियों की साधना लगी, अगणित प्रतिभाओं का सहयोग रहा और अनेक भाव-विचारों के चढ़ाव-उतार रहे। नई समस्याओं और नये आदर्शों ने अनेक प्रकार से साहित्य को अनुप्राणित और उद्‌बुद्ध किया, जिसके क्रमिक विकास का इतिहास इतने दिनों की साहित्य-सेवा के पृष्ठों में सुरक्षित है। रवीन्द्र के साथ साहित्य के जिस युग का अवसान होता है, उस पर विदेशी प्रभाव की छाप है और उस युग की मुख्य प्रवृत्ति विशेष रूप से चित्त-चमत्कार तथा कल्पना-विलास रही है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रवर्त्तन से समाज और व्यक्ति के जीवन में एक नया द्वन्द्व आया था। उस द्वन्द्व में तीक्ष्णता चाहे जितनी भी रही हो, था वह भाव-प्रधान ही। तत्कालीन साहित्य-रचना में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि लोगों में नैतिक और राष्ट्रीय आत्म सम्मान के प्रति असीम आग्रह और जागरूकता थी, नये-पुराने के सामञ्जस्य की चेष्टा एवं आदर्श प्रतिष्ठा की ललक थी। साहित्य के इस आन्तरिक पहलू के सिवाय उसके बाहरी गठन की ओर खासी लगन थी, जिसके फलस्वरूप एक नई साहित्य-कला, अभि-

नव काव्यादर्श और उस आदर्श के अनुकूल सशक्त भाषा मिली ।

नई चेतना

अति आधुनिक साहित्य के साथ जिस नये युग का सूत्रपात हुआ है। उसकी मूल मर्म वाणी क्या है, सही-सही यह बता सकना तो अभी सम्भव नहीं, क्योंकि उस पर विविध प्रयोग चल रहे हैं। वह किस लक्ष्य पर जाकर रुकेगी और तब तक उसकी रूपरेखा क्या होगी, नवीनता की इस बाढ़ में निश्चित तौर पर यह जान सकना सम्भव भी नहीं है। लेकिन एक बात समझ में आती है कि आज की साहित्य-रचना का मूल आधार वास्तविकता के घेरे में घिरा रहस्यमय मानव-स्वरूप है। मानवता और मानव-महिमा की प्रतिष्ठा के अपने-अपने ढंग के प्रयास पिछले युगों में ही झाँकने लगे थे। जिस साहित्य की शुरूआत मंगल-काव्यों के देव-स्तव से हुई, उसी साहित्य में ५०० वर्ष पूर्व चंडीदास ने गाया था :

शुनह मानुष भाइ !
सबार ऊपर मानुष सत्य !
ताहार ऊपर नाइ !

यानी ऐ मनुष्यो, सुनो ! सर्वापेक्षा बड़ा सत्य मनुष्य है, मनुष्य से बढ़कर दूसरा सत्य नहीं।

नई चेतना की पूर्वपीठिका

उस समय हृदय के प्रेम की अदम्य धारा काव्य-साधना के प्रभाव से राधा-कृष्ण के दो कूलों में बँधकर बह रही थी। आज विद्यापति या चंडीदास की आलोचना करते हुए कई लोग कहते हैं कि उनकी वर्णित वासना नितान्त लौकिक है, अलौकिकता तो बहाना है। शायद यही हो। तब धर्म की आड़ लिये बगैर लोगों में किसी वस्तु के लिए आस्था पैदा करना कठिन ही नहीं, असम्भव भी था। हम पिछले मंगल-काव्यों में भी जहाँ-तहाँ मानवता की प्रतिष्ठा के आग्रह की एक गुप्त धारा प्रवाहित होती देखते हैं। 'रामायण' के राम और 'महाभारत' के कृष्ण में हमें देवता का भ्रम महज

इसीलिए हो जाता है, चूँकि उनकी शक्ति मनुष्य की शक्ति-सीमा को पार कर जाती है। कवि भारतचन्द्र बंगला के मध्य और आधुनिक युग के सन्धि-स्थल के समर्थ कवि थे और उनमें अस्तंगत और उदयोन्मुख—दोनों ही युगों की छाया पड़ी है। परिपाटी के अनुसार उन्होंने काव्य तो 'अन्नदा मंगल' ही लिखा, किन्तु चूँकि युगधर्म का तकाजा था इसलिए उसमें दैवी स्वरूप में ही लौकिक और गार्हस्थिक जीवन की पूरी झलक उतर आती है। शिव-उमा के विवाह का जो जीवन-चित्र उसमें आया है, वह आज के गार्हस्थिक जीवन में आये दिन होने वाली घटनाओं की याद दिलाता है। उमा नवयौवना हैं, शिव बूढ़े। **वृद्धस्य तरुणी भार्या**! माँ तो दूल्हे की सूरत देखकर ही जामे से बाहर हो जाती है। वह आँख रहते यह मक्खी कैसे निगल गई।

लौकिकता का आरोप

कई लोग इसे एक सांस्कृतिक मर्यादा पर धक्का कहेंगे, पर यह उस युग-धर्म की अनिवार्य विवशता है, जिसके मुताबिक अलौकिकता के माया प्रकाश पर लौकिकता की छाया गहरी होती आ रही थी। भारतचन्द्र के बाद यह लौकिकता कवियालों में और तीखी तथा स्पष्ट हो उठी। कवि-यालों का जमाना बंगाल में कोई सौ साल तक रहा। इनके गीतों से बंगाल का गाँव-गाँव मुखरित रहा। आधार तो इन्होंने भी दुर्गा, काली, राधा-कृष्ण, पार्वती आदि देव-चरित्रों का लिया, पर उनको ओट लेकर मनुष्य का प्रेम-गीत ही प्रखरता से गूँजता रहा। उन रचनाओं में कला की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व तो नहीं मिलता, पर अकृत्रिमता का एक जोर जरूर है, जो जी को छूता है। जैसे, प्रेम पर दो बंद देखिये :

भालो बासिबे बोले भालो बासिने
आमार स्वभाव एइ तोमा बोइ आर जानिने।

यानी, तुम भी प्यार करोगे, मेरा प्यार इसलिए नहीं है। मेरी लाचारी है कि मैं तुम्हारे सिवा और कुछ नहीं जानती।

धरती और मनुष्य की महिमा

अंग्रेजी-अंग्रेजों के संसर्ग से जिस नवीन युग का आगमन साहित्य में हुआ, उसके प्रथम छोर के कवि ईश्वरचन्द्र का भी साहित्यिक विषय रहा मनुष्य। नये युग के निर्माता रवीन्द्र ने धरती और मनुष्य की महिमा को और ऊँचा उठाया। उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दिनों में यूरोप में मनीषी कोम्ट ने भी यह आवाज उठाई थी कि स्वप्नमय आकाश की ओर आँखें न उठाकर पाँवों के पास की धरती की ओर देखो, देखो उस जीवन को, जो वैचित्र्य की महिमा से महान् है और जो अपने अनगिन रंगीन पन्ने खोलकर खुली किताब की तरह तुम्हारे सामने स्पष्ट है। रवीन्द्र ने इस नये सुर को रंग-रूप से व्यापक बनाया। अपनी एक कविता में उन्होंने नारद के मुख से वाल्मीकि को यह सन्देश दिलाया है। वाल्मीकि के मुख से आदि-श्लोक निकला। नारद ने आकर कहा, महाभाग मुझे ब्रह्मा ने आपके पास यह पूछने भेजा है कि वह जो आपको वाणी का दुर्लभ वरदान मिला है, उसका आप कौन-सा उपयोग करेंगे? वाल्मीकि ने कहा, वाणी के लिए और सौभाग्य क्या हो सकता है कि उससे देव-गुण गाया जाय! नारद ने कहा, नहीं-नहीं, देवों के स्तव बहुत गाये गए, तुम उससे मनुष्य को गाकर देव बना दो।

जीवन की नई दृष्टि

भावादर्श की यही गुप्त फल्गुधारा सदियों की मञ्जिल पार करके रवीन्द्रोत्तर साहित्य में खुलकर फैल गई है। किन्तु इसका रूप, धर्म और संस्कार कुछ दूसरा है। अवश्य उसमें परिवेश और परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। आज जगत् और जीवन को देखने की जो दृष्टि है, वह वास्तवतः पीड़ित है। पिछले दिनों की प्रतिभाएँ उस सत्य-सुन्दर का मन्दिर बनाने में लगी रहीं जो शाश्वत है। उसकी तब गुञ्जाइश भी थी। उन दिनों जीवन अनाचार और उत्पीड़न से इतना दीन और अनिश्चित नहीं था; परवशता से आत्मा की चेतना और आनन्द का ऐसा दम नहीं घुट

रहा था; जीना ऐसी एक दयनीय समस्या नहीं थी। युद्ध की विभीषिका ने जीवन के मूल्य को इतना हेय और नगण्य नहीं बनाया था, सुख और शान्ति पर हिंसा की ऐसी लोलुप आँखें नहीं थीं। तब जीवन किसी कुशल शिल्पी का एक ऐसा चित्र था, जिसकी पृष्ठभूमि बड़ी खुली और व्यापक थी। आज के मनुष्य का स्थान समस्याओं के मेले की रेलम-पेल में संकुचित, अनिश्चित और व्यस्त है। ऐसी-ऐसी घटनाएँ समाज पर से गुजर गई हैं कि यह पेड़ पतझार से सूना ही नहीं हो गया है, बल्कि उसका सारा जीवन-रस सूख गया है। ऐसी-ऐसी अनुभूतियाँ और अभिज्ञताएँ मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष हो गई हैं, जो कवि-कल्पना में भी नहीं आ सकतीं।

मनोविज्ञान और जड़वाद

समाज आज ऐसी समस्या-संकुल संकीर्ण परिधि पर आ टिका है, जिस पृष्ठभूमि में मनुष्य का नया चित्र ऐसा ही बन सकता है। इस पर से विज्ञान ने उसकी दोनों आँखों को दो तरह की दृष्टि दी है—मन के लिए फ्रायड-प्रतिष्ठित मनोविज्ञान और जीवन-विचार के लिए मार्क्स का जड़वादी तुला-दण्ड। लिहाजा आज जीवन का आदर्श बहुत बदल गया है और उसीके अनुरूप बदल गया है साहित्य का प्राण-धर्म। नई चेतना का यह स्पन्दन बंगला-साहित्य में विभिन्न रूपों में धड़क रहा है।

काव्य-साधना

रवीन्द्र ने बंगला-कविता को उत्कर्ष के जिस उच्चतम शिखर पर आरूढ़ किया, उसके बाद किसी ऐसी युगान्तरकारी प्रतिभा के अभी दर्शन नहीं हुए, जो उस ऊँचे कँगूरे पर माणिक की तरह जड़ा जा सके। काव्य-रचना की गति अवश्य ही अवरुद्ध नहीं हुई है, पर कविता का प्रवाह रुक-सा गया है और उसमें अभिनव कल-कल्लोल नहीं है। बंगला के एक प्रसिद्ध आलोचक ने तो यह कहा है कि—'बंगला-कविता आज मर गई है और केवल मर ही नहीं गई है, भूत बनकर बड़ा उपद्रव कर रही है।' शायद लोग इसे अत्युक्ति कहें, मगर इतना जरूर सत्य है कि बंगला-काव्य के

क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। कुमुदरंजन मल्लिक, नरेन्द्र-देव, जीवनानन्ददास, प्रेमेन्दु मित्र, बुद्धदेव बसु, जसीम उद्दीन, वाणी राय आदि ने काव्य साधना द्वारा वर्तमान साहित्य-धारा के इस अङ्ग की सेवा की है। काव्य के क्षेत्र में कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं रही, जो रवीन्द्र की लेखनी से अछूती रह गई हो। समान रूप से उन्होंने भाव और शैली के हर प्रकार पर अपनी अपराजेय कुशलता की छाप छोड़ी है।

प्रगति-साहित्य

फिर भी कुछ नवीनता की धुँधली झाँकी प्रगति साहित्य की दिशा में मिलती है। उस आदर्श की साहित्य के लिए उपयोगिता, स्थायित्व और भावी स्वरूप का विचार यहाँ अपेक्षित नहीं है, किन्तु कुछ लोग हैं, जिन्होंने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। शैली में बंगला में 'गद्य छन्द' एक नई उपज है। बंगला में मधुसूदन ने पहले अमित्राक्षर से एक क्रान्ति की, वह क्रान्ति भविष्य का कल्याण ले आई थी। इस गद्य-छन्द का अनागत जाने क्या हो, कैसा हो। जहाँ तक हमारा खयाल है, इस नामकरण में उपयुक्तता नहीं है। छन्द को अंग्रेजी में मेजर कहते हैं। संगीत जैसे तालों द्वारा एक निश्चित सीमा में बँधा रहता है, कविता की वैसी सीमा-योजना छन्द करता है। गद्य में स्पन्दन तो हो सकता है, जिसे अंग्रेजी में रिदम् कहते हैं। क्योंकि सुष्ठु ध्वनि-योजना गद्य में भी सम्भव है। एक अंग्रेज आलोचक ने इसे 'अदर हार्मोनी' कहा है। जो भी हो, गद्य में छन्द नहीं होता। किन्तु प्रगतिवादी साहित्यकारों की रचना लगभग इसी में होती है। एक नमूना :

भांगा देवालेर फाटले एकटि घासेर गुच्छि अनेक दिन
जीवनेर जन्य जूझेछिल—
प्रतिदिन देखताम कि तार प्राणान्त प्रयास एकटि पुस्पित
प्रशाखा प्रसारित करबार जन्य।
एक दिन बुझि एकटि फिके बेगुनी रंगेर छोट्टो फूल फुटेछिलो

किन्तु मूल तखन देउले होये गेछे—सब शुकिये होलूद
होये गेल।

टूटी दीवार की फाँक में एक गुच्छा घास बड़े दिनों से जीवन के लिए जूझ रही थी। मैं रोज देखता था, उफ़, एक खिली डाल फैलाने का कैसा उसका प्राणान्तक प्रयास है! शायद एक दिन उसमें एक फीका बैंगनी रंग का छोटा-सा फूल भी खिला था। लेकिन तब तक उसकी जड़ दिवालिया हो गई थी—सब सूखकर पीला हो गया।

'पूर्वाशा', 'परिचय' आदि मासिक पत्रों द्वारा इस प्रवृत्ति को काफी प्रोत्साहित किया जा रहा है।

कथा-साहित्य

आज का बंगला-साहित्य कहने से उसके जिस समृद्ध अंग पर नज़र पड़ती है, वह है कथा-साहित्य। 'आलालेर घरेर दुलाल' में जिस अंग की नींव कभी पड़ी थी, इसी अरसे में उसका ऐश्वर्यमय विस्तार देखने योग्य हो आया है। बंकिम, रवीन्द्र और शरत् ने इस क्षेत्र में नई-नई धारा का सूत्रपात किया और आज साहित्य की वह शाखा खूब पल्लवित-पुष्पित हो उठी है। आज के बंगला-कथाकारों में सर्वापेक्षा प्रमुख हैं—स्वर्गीय विभूति-भूषण वन्द्योपाध्याय, ताराशंकर वन्द्योपाध्याय, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, वनफूल (बलाइ चाँद मुखोपाध्याय), परशुराम, शैलजानन्द मुखोपाध्याय, अचिन्त्यकुमार सेन गुप्त, बुद्धदेव बसु, प्रेमेन्दु मित्र, माणिक वन्द्योपाध्याय, शरदिन्दु वन्द्योपाध्याय, मनोज बसु, सरोजकुमार राय चौधरी आदि।

विभूति वन्द्योपाध्याय

अपनी पहली ही पुस्तक 'पथेर पाँचाली' में विभूति बाबू ने जिस अभिनव अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया कि वे साहित्य के एक स्थायी आसन पर आसीन हो गए। इनकी लेखन-शैली जैसी अपने ढंग की है, वैसे ही इनके विषय और पात्र हैं, जो रस-पिपासुओं को नई सामग्री देते हैं। इनकी रचना में कल्पना की मौलिकता है, कवित्व है! जीवन और जगत् को डूबकर देखने के बजाय वे एक राहगीर के समान तटवर्त्ती इलाकों के

शोभा-सौन्दर्य को एक दर्शक की तरह ही देखते हैं और उस दृष्टि के पीछे जो उनका रसस्रष्टा बैठा है, वही उनके रंगीन चित्र की मनोरम छटा औरों के लिए रच देता है। फलस्वरूप पुस्तक में समस्या की जटिलता नहीं है, घटना-वैचित्र्य नहीं है, न सुख की उत्तेजना है, न दुःख का हाहाकार। मानव-मन को मथ डालने वाली मनस्तात्त्विक की भी नजर इसमें नहीं है, फिर भी पुस्तक रुचती है, क्योंकि इसमें सहज अनुभूतियों की निष्कपट वर्णन-माधुरी है। प्रकृति की ऐश्वर्यमयी पटभूमि में एक नादान मानव-यात्री की अन्तर्कथा है। गीतिकविताकार की तरह इस औपन्यासिक की कल्पना आत्मकेन्द्रिक है। एक आलोचक को इस पुस्तक के बारे में उन्होंने स्वयं ही एक बार कहा था—इस उपन्यास की रचना में किसी विशेष स्थान-काल-पात्र के प्रति पक्षपात नहीं है। इसके वर्णन द्वारा उन्होंने जिस धारणा को अनुभूति गोचर करना चाहा था, वह है विपुल रहस्यों के अनुध्यान से जीवन के स्वरूप की उपलब्धि—वास्टनेस ऑव स्पेस एण्ड पासिंग टाइम।

गाँव, प्रकृति, शिशु—इन सबके प्रति उन्हें अगाध प्रेम था। अपनी दूसरी पुस्तक 'आरण्यक' में उन्होंने इसका और भी गाढ़ा परिचय दिया है। इस पुस्तक में नायक-नायिका-जैसी कोई चीज नहीं है—प्रेम-विरह का रोना-गाना नहीं है। छाया-छवि से दूर देहात के ग्रामीण पात्र अपना निष्कपट जीवन लिये सामने आते हैं; जाने-अजाने फूल, चीन्हे-अन-चीन्हे पेड़-पौधे, पंछी, सुबह-साँझ, धूप-अँधेरा—इन्हीं सामग्रियों पर सारी पुस्तक की भित्ति खड़ी है। फिर भी उसमें एक प्रवाह है, रस है, रुचि को पकड़े रखने की कूवत है। विभूति बाबू की अन्य रचनाओं में भी उनकी यह विशेषता देखी जा सकती है।

ताराशंकर

दृष्टि और सृष्टि के लिहाज से कहानी और उपन्यास दोनों ही में ताराशंकर वन्द्योपाध्याय ने समर्थ प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी भेदक आँखें जैसे मनुष्य की छाती में पैठकर मन को देखती हैं, कान लगाकर जैसे वे माटी की धड़कन को सुनते हैं। बंगाल के विभिन्न इलाकों के

जीवन का बहुत ही सच्चा और गहरा अध्ययन उनकी कृतियों में मिलता है। 'रायकमल' में बंगाल के वैष्णव-जीवन का एक कारुणिक रूप है, 'धात्री देवता' में वीरभूम के लोक-जीवन के जीते-जागते चित्र हैं, और 'संदीपन-पाठशाला' में बंगाल के कैवर्तों की जीवन-यात्रा है। चरित्र के वैचित्र्य का ऐसा वैभव, उनकी ऐसी वास्तविकता बहुत कम कथाकारों में पाई जाती है। 'हाँसुली बाँकेर उपकथा' में तो चरित्रों की जैसी एक नुमाइश है। उनके जीवन-दर्शन का एक निजी पहलू है। वे यह जानते हैं कि प्रकृति के कानून ही मनुष्य की नियति नहीं हैं, उन कानूनों पर, प्रकृति पर नियति का शासन है। इसीलिए उन्होंने समाज के सभी स्तरों के पात्रों को आधार बनाया है। सभी प्रकार के जीवन और जीवन की हर वास्तविकता और विरूपता का अच्छा-बुरा पहलू उनकी कृतियों में मिलता है। एक आलोचक ने ठीक ही कहा है, 'ताराशंकर उन कलाकारों में हैं, जो विश्लेषण के बजाय आविष्कार करते हैं; व्याख्या के बजाय सृष्टि करते हैं और प्रमाणित करने के बजाय प्रदर्शित करते हैं।' उनकी रचनाओं में युग की चेतना धड़कती है।

विभूति मुखोपाध्याय

विभूति भूषण मुखोपाध्याय मुख्यतया हास्य और वात्सल्य के सफल कथा-शिल्पी हैं। प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने जिस शिष्ट हास्य की भित्ति पर अपनी साधना का महल खड़ा किया, विभूति बाबू राही तो उसी लीक के हैं, पर उन्होंने उसे और भी व्यापक तथा गम्भीर बनाया है। कथा में वात्सल्य-सम्बन्धी रचना में तो उन्हींका जैसे एकाधिपत्य है। 'स्वर्गादपि गरीयसी' नाम के बृहद् उपन्यास में उन्होंने अपनी करुणा-कोमल ममत्वमयी दृष्टि का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है। उनकी अन्तर्दृष्टि की ईमानदारी और गहराई पर आस्था होती है। 'नीलांगुरीय' आदि उनकी अन्य कई रचनाएँ हैं, जिनमें जीवन के उच्छ्वास और करुणा की गलबाँही के बड़े मनोरम चित्र हैं।

वनफूल

आधुनिक कथाशिल्पियों में वनफूल का अपना स्थान है। उनकी दृष्टि बहुत कुछ जड़वादी है और जीवन के रूप को वे विज्ञान तथा इतिहास के आधार पर देखते हैं। इसलिए चरित्रों में आध्यात्मिक रहस्य का जो जादू प्राणवत्ता का सञ्चार करता है, उसका इसमें अभाव है। फिर भी एक क्षिप्र-क्षमता इनकी लेखनी में है, जो पाठक-चित्त को आकर्षित करती है। 'जंगम', 'मानदण्ड', 'डाना' आदि उपन्यास तथा अनेक कहानियाँ इनकी लिखी हुई हैं। लिखने की शक्ति इनमें खूब है। शैली बड़ी चुस्त-दुरुस्त, भाषा चलती हुई होती है। व्यंग्य का जोर है। मजेदार चीजें लिखने में विशेष निपुण हैं। 'विद्यासागर', और 'मधुसूदन' दो नाटक भी इन्होंने लिखे हैं।

परशुराम

परशुराम की रचनाओं से हिन्दी के पाठक परिचित हैं। उनकी उच्च-कोटि की हास्य-रचनाएँ हिन्दी में अनूदित होकर बहुत पहले ही आ चुकी हैं। उनकी मुख्य रचनाएँ हैं—'गड्डलिका (भेड़िया धसान), 'कज्जली', 'हनुमानेर स्वप्नभंग'। हास्य में इन्होंने एक सर्वथा नई शैली का प्रवर्त्तन किया है और बंगला में अद्वितीय हैं। इधर बहुत दिनों से वे लिखने से विरत हैं। हाल में उनकी कहानियों का एक और संग्रह निकला है—'गद्य-पद्य'।

रवीन्द्र मैत्र

रवीन्द्र मैत्र बहुत थोड़ी ही उम्र में चल बसे, किन्तु उसी अरसे के उनके कृतित्व से बंगला-साहित्य बहुत आशान्वित हो उठा था। उनमें अद्भुत प्रतिभा थी। कविता, कहानी, व्यंग्य, उपन्यास, नाटक—सब-कुछ वे लिख सकते थे और उस लिखने में उनकी पैनी निगाह और क्षमता का परिचय मिलता था। 'त्रिलोचन कविराज', 'मानमयी गर्ल्स स्कूल'—ये दो रचनाएँ उनकी बड़ी लोकप्रिय हुईं। 'घृत कुम्भ' नाम का उपन्यास अधूरा

ही रह गया। उनकी शैली में सादगी थी, किन्तु शक्ति और ओज था।

शैलजानन्द

पिछले दिनों बंगला में 'कल्लोल' के प्रकाशन से प्रतिभाशाली कथाकारों की एक अच्छी गोष्ठी संगठित हुई थी। उन कथाकारों में से कुछ की प्रतिभा का प्रकाश तो बाद में काफी फैला और कुछ साहित्य-सेवा से विरत हो गए। शैलजानन्द मुखोपाध्याय आज बहुत कम लिखने लगे हैं, किन्तु उनमें कथा-शिल्प की शक्तिशाली प्रतिभा थी। आञ्चलिक समाज-जीवन तथा चरित्रों पर कथा-निर्माण की प्रवृत्ति बंगला में पहले-पहल उन्हीं में दिखाई दी। मानभूम की खानों में काम करने वाले मजूर-जीवन की झाँकी उनकी कहानियों में बड़ी निखरी है। 'कचला कुटी', 'नरमेध', 'अतसी', 'वाणभासि' आदि उनकी सुन्दर कृतियाँ हैं।

अन्यान्य

अचिन्त्यकुमार, बुद्धदेव बसु और प्रेमेन्द्र मित्र ने कथा-साहित्य में खासी प्रतिष्ठा पाई है। इनमें से अन्तिम दो प्रगतिवाद के समर्थक हैं और गद्य-पद्य दोनों में समान कुशलता से, अप्रतिहत उत्साह से लिख रहे हैं। बुद्धदेव की रचनाओं में समाज-चित्र की कहीं-कहीं नग्नता भी खूब उभरती है। वास्तविकता का बड़ा उग्र रूप उनकी रचनाओं में पाया जाता है। माणिक वन्द्योपाध्याय के अनेक उपन्यास लोकप्रिय हुए हैं, जिनमें से मुख्य हैं, 'दिवारात्रिर काव्य', 'पुतुल नाचेर इतिकथा', 'पद्मानदीर माझी', 'शहरतली'। मनस्तत्त्व और कवित्वमय कल्पना उनकी विशेषता है। वास्तविकता की ओर झुकाव है। शरदिन्दु वन्द्योपाध्याय की कहानियों में एक स्वतन्त्र शैली के दर्शन मिलते हैं। मरुओ संघ, हासिकान्ना, तन्द्रा-हरण, रात्रि आदि कहानियों की प्राञ्जल भाषा, प्रवाह, कल्पना-शक्ति का सुनिपुण सामञ्जस्य देखने को मिलता है। शरदिन्दु बहुत दिनों से साधना-निरत हैं और उनकी रचनाओं की संख्या कम नहीं है। इनके अतिरिक्त मनोज बसु, सरोजकुमार राय चौधुरी, सतीनाथ भादुड़ी, अमला देवी, प्रमथनाथ विशि आदि भी साहित्य के इस अंग की श्री-समृद्धि में दत्तचित्त

हैं। सरोजकुमार राय चौधुरी के कई उपन्यास निकले हैं, जिनमें 'मयूराक्षी', 'गृहकपोती', 'सोमलता' अच्छे बन पड़े हैं। ये तीनों उपन्यास एक-दूसरे के पूरक हैं। सतीनाथ भादुड़ी भी अपने पहले ही उपन्यास 'जागरी' से मशहूर हुए। 'ढोंड़ाई चरित मानस' उनकी दूसरी कृति है। 'सम्बुद्ध', प्रमथनाथ विशि ने रम्य-रस की कई सुन्दर रचनाएँ की हैं।

कथा की नई अन्तर्कथा

आञ्चलिक जीवन और समाज-परिचय की इन दिनों बंगला-उपन्यासों में धूम-सी मची हुई है। कमो-बेश सभी कथाकारों का ध्यान इस ओर है। मनोज बसु की कहानियाँ ऐसी ही होती हैं। रामपद मुखोपाध्याय ने ध्वंसोन्मुख राढ़ के समाज का चित्र उपस्थित किया है। सामन्ती युग के पात्रों की सृष्टि का युग तो बहुत पहले लग गया था, मध्यवित्तों की ओर भी अब उतना ज़्यादा ध्यान नहीं है, जितना कि निम्न स्तर के जीवन का। समाज के उपेक्षित पात्रों को साहित्य में धड़ल्ले से स्थान मिलने लगा है।

साहित्य के अन्य अङ्ग

यात्रा और संस्मरण-सम्बन्धी अनेक अच्छी पुस्तकें बंगला में निकली हैं, जो शैली की श्रेष्ठता के लिए बड़ी लोकप्रिय हुई हैं। उनमें से डॉ० मुज्तबा अली का 'देशे-विदेशे', यायावर का 'दृष्टिपात', अन्नदाशंकर राय का 'पथे-प्रवासे', 'चार याता देश', अचिन्त्यकुमार का 'परम पुरुष रामकृष्ण', प्रबोध सान्याल का 'महाप्रस्थान के पथ पर', जलधर सेन का 'हिमालय' आदि बहुत ही सुन्दर हैं। साहित्यालोचन-सम्बन्धी शास्त्रीय ढंग की पुस्तकें, 'व्यक्तिगत निबन्ध', 'प्रबन्ध-साहित्य', अन्य प्रकार के साहित्य की ओर भी लेखन-प्रकाशन में प्रयास चल रहे हैं। वास्तव में तो बंगला-साहित्य की यह श्री-समृद्धि ज़्यादा-से-ज़्यादा सौ साल की है। इतने में किसी साहित्य का बालिग होना भी एक महत्त्व रखता है। इसी अरसे में बंगला ने विविध दिशाओं में जो प्रगति की है, उसे पर्याप्त तो नहीं, आशानुरूप तो कहना ही पड़ेगा। उसके भविष्य की प्रखर उज्ज्वलता का आशामय विश्वास होना अनिवार्य है।

सहायक ग्रन्थ

१. बंग भाषा ओ साहित्य : डॉ० दिनेशचन्द्र सेन
२. बांगला साहित्येर कथा : श्री सुकुमार सेन
३. बंगीय नाट्यशालार इतिहास : श्री ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय
४. बांगला सामयिक साहित्य : ,,
५. बांगला साहित्येर नवयुग : डॉ० शशिभूषणदास गुप्त
६. साहित्य-वितान : मोहितलाल मजूमदार
७. वागर्थ : विजनविहारी भट्टाचार्य
८. समालोचना साहित्य : डॉ० श्रीकुमार वन्द्योपाध्याय
९. वैष्णव साहित्य प्रवेशिका : श्री हिमांशु चौधुरी
१०. सहजिया साहित्य : फणीन्द्रमोहन बसु
११. शरत् परिचय : ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय
१२. रवीन्द्र जयन्ती उत्सर्ग ग्रन्थ :
१३. कवि मधुसूदन :
१४. रवीन्द्र परिक्रमा :
१५. समसामयिक कविर चोखे रवीन्द्रनाथ
१६. बांगला सामयिक पत्र :
१७. साहित्य साधक चरितमाला : ब्रजेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय
१८. संक्षिप्त बांगला व्याकरण : सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

बंग दर्शन, प्रवासी, भारतवर्ष, शनिवारेर चिठी आदि पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें ।